सन्तोला
(नाटक)

वाणी प्रकाशन
दिल्ली-११०००७

मुद्राराक्षस

सपोला

वाणी प्रकाशन
६१-एफ, कमला नगर, दिल्ली-११०००७
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण १९८०
सर्वाधिकार लेखकाधीन
: मूल्य १२.०० रुपये

गगन प्रिंटर्स
कृष्ण नगर, दिल्ली-११००५१
द्वारा मुद्रित

Santola (Play)
by Mudrarakshas

भाभी गिरिजा शुक्ल को

प्रथम प्रस्तुति–१९७९

[म० प्र० कला परिषद्, भोपाल द्वारा आयोजित नाट्य समारोह 'पहले-पहल' में, कलामंदिर, ग्वालियर की ओर से प्रस्तुत]

निर्देशक : डॉ० कमल वशिष्ठ

सन्तोला : वसुंधरा व्यास
प्रो० सरन : अशोक बुलानी
सुखबीर : उदय शहाणे
भुवन : प्रकाश व्यास

भूमिका

कौन-सा नाट्य लेखन प्रासंगिक है ?

एक और प्रश्न—कौन-सी रचना हमें अपने समय और इतिहास से जोड़ती है ?

इस दूसरे सवाल के जवाब में बहुत कुछ पहले सवाल का जवाब भी छुपा हुआ है और मुझे लगता है दूसरा सवाल हमेशा ग़लत ढंग से पेश किया गया है।

सवाल यह नहीं है कि कौन-सी रचना हमें समय और समाज से जोड़ती है, बल्कि यह होना चाहिए—हमारा समय, समाज और इतिहास कौन-सी रचना है ?

रचना को इतिहास जैसी किसी चीज़ से जोड़ने का अर्थ होता है इतिहास की समग्रता से रचना के अस्तित्व को बाहर मान बैठना। किसी भी रचना को—अगर वह रचना होने की शर्त पूरी करती है और किसी अनस्तित्ववान बोध को अस्तित्व देती है—हम इतिहास से बाहर नहीं मान सकते। हमें केवल यह फैसला करने की ही इजाज़त होनी चाहिए कि कोई रचना रचना है या नहीं है और अगर रचना है तो वह इतिहास में अपनी कितनी जगह बनाती है।

रचना और देश-काल के रिश्ते को लेकर जो एक आम सवाल उठाया जाता है, वह है समाज के समसामयिक राजनीतिक और आर्थिक सवालों को लेकर रचना के एक ओर या दूसरी ओर खड़ी होने का। और स्पष्ट शब्दों में कहूँ—राजनीतिक दृष्टि से शोषक या शोषित में किसी एक की तरफ़दारी करने का।

यह अजीब ही बात है कि 'तरफ़दारी' का यह सवाल रचनाधर्मिता के अंदरूनी चरित्र को समझे बग़ैर ही उठा दिया जाता है। कोई भी रचना समूची मानव सभ्यता के इतिहास में ऐसी नहीं मिलेगी, जो दूसरी तरफ़ हो यानी शोषक, उत्पीड़क या अत्याचारी के साथ हो। दुनिया की हर अच्छी रचना अगर उत्पीड़ित के साथ नहीं है तो उत्पीड़क के साथ भी कतई नहीं है। 'मेघदूतम्' भी कुबेर के प्रति नहीं उसके द्वारा निष्कासित यक्ष और उसकी पत्नी के प्रति सहानुभूति पैदा करता है।

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न ध्यान देने लायक है। समाज और समय का कितना कुछ मानवीय इतिहास में सम्मिलित होता है और कितना बाहर छूट जाता है ? क्या समय और समाज की घटना अपने समग्र रूप में इतिहास में शामिल होती है या उसकी शिरकत की प्रक्रिया कुछ और होती है ? क्या घटनाक्रम मात्र ही इतिहास हो जाता है ?

एक बड़ी घटना का उदाहरण लें—द्वितीय विश्वयुद्ध। द्वितीय विश्वयुद्ध का एक पक्ष वह है जो सैनिक अभियानों और जनजीवन और संपत्ति के विनाश का ब्यौरा है। लेकिन इन्हीं ब्यौरों में हिटलर की आत्महत्या, हाराकीरी करने वाले जापानी हवाबाज़ की आत्महत्या और यातना शिविर के बन्दी की आत्महत्या में मूल्यपरक अन्तर हैं, और ये मूल्यपरक अन्तर ही इन तीनों घटनाओं को इतिहास बनाते हैं, इन घटनाओं की ऊपरी इतिवृत्तात्मक समानता इतिहास का हिस्सा नहीं बनती है।

अब मैं सीधे एक बात उठाना चाहूँगा। आज इस देश में राजनीति का भ्रंश एक अतिनाटकीय स्थिति है। इस राजनीति भ्रंश का एक ऊपरी रूप, है जो आम तौर पर इसे पहचनवाता है। लेकिन इसका एक गहरा आन्तरिक चेहरा भी है जिसको इतिहास सहेजकर रखेगा। समसामयिक नाटककार दोनों को एक साथ या दोनों में से किसी एक को पकड़ने की कोशिश करता है। लेकिन आम तौर पर उससे अपेक्षा यह की जाती है कि राजनीति में विदूषकत्व दिखाने वाले किसी चरित्र या अनुभव को ज्यों का त्यों नाटक में उतार दिया जाय। इस तरह नाटक सहज सम्प्रेषणीय होता है। सरल भाषा में कहा जाय तो आम आदमी को बहुत मज़ा आता है।

लेकिन ऐसा वक्तव्य अपनी रचना को इतिहास में जाने से रोकता है।

ऐसा नाटकीय अनुभव सिर्फ़ तब तक और उन्हीं लोगों में 'मज़ा' देने की क्षमता रखता है जब तक उस अनुभव की आधारभूत घटना लोगों को याद रहती है। दाढ़ी मुँडाने या रखाने की घटना को राजनीति से जोड़ने वाले व्यक्ति की याद जब तक समाज को रहेगी, तभी तक उसका नाट्य-रूपान्तर लोगों को रुचेगा। बाद में वह अपनी सारी पकड़ खो देगा।

नाटक किसी यथार्थ का नाट्यरूपान्तर भर नहीं होता है। कोई भी अच्छा नाटक यथार्थ के नाट्यरूपान्तर से कुछ ज़्यादा होता है।

इसका अर्थ यह भी नहीं लगाया जाना चाहिए कि नाटक में सम-सामयिक यथार्थ के बाहरी कलेवर का कोई हिस्सा जीवित रूप में नहीं होना चाहिए; बल्कि नाटक में यथार्थ के बाहरी कलेवर को एक जीवित हिस्से के रूप में रहना ज़रूरी होता है। इस अर्थ में नाटक के कथ्य के बारे में इतना फैसला और करना होगा कि यथार्थ के बाहरी कलेवर के जीवित अंश को नाटक में कितना और कितनी सीमा तक रखा जाय कि वह एक निश्चित अवधि बीतने के बाद भी जीवित रह सके।

एक रूपक की भाषा में बात की जाय तो कहा जा सकता है कि इति-हास में किसी घटना की सूक्ष्म आत्मा शामिल हो जाती है और घटना की काया नष्ट होने के लिए इतिहास से बाहर छूट जाती है। इसीलिए किसी यथार्थ के बाह्यांग से संबद्ध लेखन भी इतिहास से बाहर ही नष्ट होने के लिए छूट जाता है।

यथार्थ के बाह्यांग और अंतरंग या यथार्थ की काया और आत्मा से एक भारी भ्रम उठ खड़े होने की गुंजाइश है। किसी भी वस्तुपरक सत्य की समय और समाज से मूल्यात्मक संगति या विसंगति होती है और उसी के आधार पर वह वस्तुपरक सत्य इतिहास में अपनी प्रासंगिकता बनाता है।

इसी बात को एक दूसरे रूप में देख लें: कोई भी वस्तुपरक सत्य व्यक्ति पर अनुकूल या प्रतिकूल दबाव पैदा करता है। इस दबाव को हम व्यक्ति और वस्तुजगत के बीच संबंध कहते हैं। जहां ये संबंध वस्तुजगत का अंतरंग होते हैं वहीं वे तत्त्व जो इन सम्बन्धों का स्वरूप बनाते या निर्धारित करते हैं, वस्तुजगत का बाह्यांग होते हैं।

मनुष्य के इतिहास के आर्थिक राजनीतिक संदर्भों से जुड़े किसी अच्छे रचनात्मक नाटक में वस्तुजगत के इस बाहरी कलेवर के बजाय व्यक्ति पर पड़े दवावों का आकलन किया जाता है।

ये दबाव बहुत जटिल बुनावट वाले होते हैं और देखने का कोण ज़रा सा बदल जाने पर बिल्कुल अलग प्रकार के लगने लगते हैं। इसीलिए बेहतर नाट्य लेखन दबावों की व्याख्या करने के साथ-साथ अपने उस कोण का स्पष्टीकरण भी करता है जिससे नाटककार ने उक्त दबाव देखा। बर्तोल्त ब्रेख़्त ये दोनों काम साथ-साथ करता है। वह वस्तुजगत के व्यक्ति पर दबावों का भी चित्रण करता है और दबावों को देखने के अपने कोण का भी।

दो अलग कोणों से वस्तुजगत का एक ही दबाव किस तरह अलग दिखाई देता है इसका अच्छा उदाहरण है एन्युइल और इलियट के नाटक क्रमश: 'बेकेट' और 'मर्डर इन कैथीड्रल'। दोनों नाटक इतिहास की एक ही घटना को लेकर लिखे गए हैं लेकिन दोनों का ही चरित्र एक-दूसरे से स्वतंत्र और अलग लगता है। अलग है भी।

लुइगी पिरान्देलो नाट्यजगत में इस स्थिति की एक रोचक परिणति है। उसका नाटक (इफ़ यू थिंक यू आर) वस्तुजगत के व्यक्ति पर पड़े दबावों को अन्तत: कोण निर्भर ही मान लेता है। यानी वह मान बैठता है कि वस्तुपरक सत्य कुछ नहीं है। कोण ही अन्तिम सत्य है और हर कोण किसी एक ही सत्य को अलग-अलग द्रष्टा के लिए अलग-अलग सत्य बना देता है। यह एक दार्शनिक अतिवाद है। दर्शन के इतिहास में ऐसे विचारक-चिन्तक हुए हैं, जो वस्तुसत्य स्वीकार ही नहीं करते। हीगल और काण्ट से लेकर ब्रैडले और ह्यूम तक के चिन्तन में वस्तुजगत का यही अस्वीकार मिलता है।

किसी ज़माने में भारत में (वेदान्त को यहाँ शामिल न करें) कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने भी इस समस्या पर उतनी ही गहराई से सोचा था। असंग और बसुबन्धु की छोटी-सी लेकिन बहुत गहरी और अमूल्य रचना 'लंकाव-तारसूत्र' इस दिशा में ह्यूम या हीगल से ज़्यादा सार्थक बहस करती है। नील और नीलबुद्धि यानी वस्तु और वस्तु का बोध—इन दोनों में से

किसका अस्तित्व पहले है और दोनों ही अस्तित्ववान हैं या दोनों में से कोई एक ही अस्तित्वान है। डेकार्ट ने फैसला दिया कि मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ। यानी नीलबुद्धि का पहले होना उसकी मान्यता थी। ह्यूम तक आते-आते नील बुद्धि ही बाक़ी रही, वस्तुजगत का अस्तित्व ही नकार दिया गया।

मार्क्सवादी विचारकों ने नीलबुद्धि की इस प्राथमिकता से इनकार करके वस्तुजगत के अस्तित्व की प्राथमिक उपस्थिति को मान्यता दी और बुद्धि या विचार या चेतना को वस्तुजगत के अस्तित्व की एक स्थिति विशेष ही माना। यानी अगर नील है तो उसकी उपस्थिति की एक अनिवार्यता उसका विचार प्रत्यय या नीलबुद्धि भी है।

इस तरह एक वस्तुसत्य के परिभाषित या पूर्वनिर्धारित कोण को लेकर लेखन किया गया। यह एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है जिसकी बहुत सावधानी से व्याख्या की जानी चाहिए। व्यक्ति पर वस्तुजगत के दबावों को एक प्रामाणिक कोण से देखा जाना चाहिए इसमें सन्देह नहीं, लेकिन 'कोण' का ऐसा आईना नहीं होना चाहिए जो दृश्य को या दृश्य के अपने स्वरूप को सही-सही सामने न आने दे। वह कोण, अधिक से अधिक, सूक्ष्मदर्शी का काम कर सकता है, दृश्य को मोटा, पतला, नाटा-लम्बा या टेढ़ा-मेढ़ा करने का हक उसको नहीं होना चाहिए।

संस्कृत शास्त्रीय नाटकों में एक शर्त है कि 'नाटक' का नायक राजा ही हो सकता है (इसीलिए बेहतरीन नाटक मृच्छकटिकम् नाटक नहीं माना गया) और राजा को शीलवान, शूरवीर, विवेकी, सुन्दर, न्यायी, भला—सभी सद्‌गुणों से युक्त होना चाहिए और जहाँ नायक में कोई दोष सिद्ध होता हो वहाँ कथा में उचित परिवर्तन कर लेना चाहिए।

इसी के समानान्तर एक स्थिति यह भी हो सकती है कि शोषक के सामने शोषित को भी इसी तरह का पक्षपात मिलना चाहिए यानी कोई मजदूर या भूमिहीन किसान बेईमान या बदनीयत न दिखाया जाय। यह कोण को पकड़ कर बैठ जाना हुआ। इस हिसाब से गोर्की पापेल के पिता के शराबी और पत्नी-उत्पीड़क चरित्र को परिवर्तित करने पर मजबूर किया जाना चाहिए था।

थोड़ा अरसा पहले मैंने एक कहानी पढ़ी जिसमें हड़ताल के दौरान मिल मालिक मजदूरों के नेता 'नंदराम' को मरवा डालना चाहता है। यह खबर मिलते ही मिल का हर मजदूर अपने को नन्दराम बताने लगता है। लेखक ऐसा कोई मजदूर नहीं देख पाता, जो खुद चुपके से मुखबिरी करके असली नन्दराम को पहचनवा दे !

मैं यह मानता हूँ कि लेखक कितने ही नेक इरादे से हो, अगर झूठ बोलता है तो वह इतिहास के साथ विश्वासघात करता है। लेखक को सच बोलना ही होगा और सच बोलने के खतरे भी उठाने होंगे।

सच बोलने के रिवाज के विरुद्ध, बहुसंख्यक प्रगतिवादी, कुछ खास तरह के लेखन की प्रासंगिकता को अस्वीकार करते रहे हैं। वैसे उन्होंने तो लंबे अरसे तक ब्रेख़्त को भी अस्वीकार ही किया था। कामका को भी वहुत देर से ही स्वीकार किया गया। कुप्रिन भी दायरे से बाहर ही रहा है।

इससे पहले कि एक भिन्न प्रकार के रंगलेखन की विवेचना करूँ, भारतीय समाज के खास परिदृश्य का ज़िक्र भी ज़रूरी होगा।

उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज ने सहसा एक विशेष वर्ग का तेज़ी से विकास देखा जिसे आज हम मध्यवर्ग के रूप में जानते हैं। इस मध्यवर्ग में ज़्यादातर ऐसे लोग शामिल हैं जो कोई भी उत्पादक काम नहीं करते। वे पूँजी लागत के योग्य भी नहीं हैं। इस वर्ग की शुरुआत दो तरफ़ से हुई। एक तरफ़ मुंशी या बाबू के रूप में और दूसरी तरफ़ दलाल या बिचौलिए के रूप में। इन दोनों ही रूपों में समाज में कोई निर्णायक भूमिका अदा करने लायक स्थिति में वे लोग कभी नहीं रहे, आज भी नहीं हैं।

यह मध्यवित्तवर्ग एक विचित्र नियति का शिकार रहा है। अक्सर वह खोखली हो चुकी मर्यादाओं और भोथरे मूल्यों से लिपटा रहा है। वह ज़बर्दस्त नियतिवादी भी रहा है और अवसरवादी भी। आर्थिक विपन्नता का समूचा दुर्भाग्य झेलने के बावजूद वह अपनी ज़िन्दगी के सच को परदे में रखता रहा है और अक्सर अपने आपसे भी झूठ बोलता रहा है। इसीलिए वह निर्मम और निष्ठुर भी हो गया। उसमें सामन्तवादी उदारता, दया या ईमानदारी जैसे मूल्य भी नहीं बचे। किसी भी मूल्य पर उसे अपने

सफ़ेद कपड़ों की सफ़ेदी बनाए रखने की चिन्ता खाती रही है।

मध्यवित्तवर्ग ने ही अक्सर खानदान की इज़्ज़त के नाम पर आत्म-हत्याएँ कीं और इसी वर्ग ने खुद दूसरे मनुष्य को ही नहीं अपने निकटस्थ को भी अक्सर पहचानने से इनकार किया। उसके आचरण में एक गहरी यान्त्रिकता आई और वह ज़्यादा से ज़्यादा अमानुषिक होता गया।

उसकी इस अमानुषिकता के पीछे उसका वह आर्थिक-सामाजिक परिवेश रहा है जिसमें जीने को वह बाध्य हुआ या जिसमें जीने का फैसला कभी उसने खुद ही किया था। इस मध्यवर्ग के सदस्यों की दो कोटियाँ हैं: एक कोटि वह जिसमें ऐसे लोग हैं जो छोटे या बड़े नगरों में ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहते आए और वर्तमान समय तक आते-आते आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग में सिमट रहे और दूसरी कोटि वह जिसमें गाँवों की ओर से नगरों में आए बहुत-से लोगों में से कुछ सफेदपोश हो गए। इन दोनों ने ही कुलशील संबंधी झूठ का बहुत बड़ा सहारा लिया। दोनों को ही यह मानना शर्मिन्दगी का कारण लगता रहा है कि उनके पिता या पितामह विपन्न थे या देहाती थे। मध्यवर्ग के बीच ही अपनी तुलनात्मक श्रेष्ठता का एहसास एक और बड़ी कुण्ठा रहा है। अपने अत्यन्त सीमित आर्थिक साधनों के बावजूद अपनी सम्पन्नता का जो ढोंग इस वर्ग के आदमी को करना पड़ा है उसने इसके जीवन को विपन्न से विपन्नतर बनाया है। इज़्ज़तदार होने और अच्छा खाते-पीते होने की चाहत ने उसके रहन-सहन में हास्यास्पद नकलीपन भरा।

विपन्न रहन-सहन के कुछ और मनोवैज्ञानिक दबाव भी पैदा हुए। मध्यवित्तवर्ग के अधिकांश को तंग मकानों और अक्सर एक-एक कमरे में समूचे परिवार के साथ गुज़र करना पड़ा। रोज़ी के सिलसिले में पारिवारिक इकाइयाँ बुरी तरह टूटीं। अक्सर पति को पत्नी और बच्चों तक से अलग सैकड़ों मील दूर के शहर में दिन गुज़ारना पड़ा। ऐसे परिवारों के बच्चों का मनोविज्ञान तो बदला ही खुद स्त्री-पुरुषों का मनोविज्ञान भी बदला।

मर्यादाओं और मूल्यों के साथ गहराई से चिपटे होने के बावजूद नैतिक मूल्य और मर्यादाएँ खण्डित हुईं। पातिव्रत धर्म या एकपत्नीव्रत

जैसी धारणा की विचित्र स्थिति हो गई। पति से महीनों अलग रहने वाली औरत या तो घुटकर कुंठित हुई या फिर उच्छृंखल हुई और कभी पति-पत्नी के रिश्ते इसी आधार पर टूटे और कभी-कभी दोनों ने यथास्थिति को स्वीकार किया। घर के बेटे-बेटियों को नैतिक मर्यादाओं में बाँधे रखना एक समस्या बनी। अक्सर जिस पिता ने बेटी के चरित्र की रक्षा के जी तोड़ उपाय किए और भरसक उसे 'चरित्रवाली लड़की' बनाया, उस पिता की स्थिति उस समय हास्यास्पद विद्रूप में बदल गई जब एक दिन उसने देखा कि बेटी पड़ोस के किसी लड़के के साथ घर छोड़कर भाग गई। इससे भी जटिल मनस्थितियाँ वहाँ देखने में आईं जहाँ माँ के उच्छृंखल हो जाने के बाद नैतिक दृष्टि से टूटते बच्चों को समेटता पिता बैठा रहा या नीतिबद्ध दो बहनों में से एक उच्छृंखल हो गई लेकिन बेहद चालाकी के साथ उच्छृंखलता को छुपाए रही और बड़ी संयमित होने के बावजूद सिर्फ़ इसलिए बुरी बनती गई कि वह सिर्फ़ शब्दों से विद्रोह करती रही।

बहुत कम परिचित, शान्ति मेहरोत्रा का नाटक 'ठहरा हुआ पानी' ऐसे मध्यवित्तवर्ग का एक बेहतरीन उदाहरण है। यूरोप में उन्नीसवीं सदी में इब्सन और स्ट्रिंगबर्ग और इस सदी में टेनेसी विलियम्स, ओ'नील और एडवर्ड आल्बी ऐसी जटिल मनस्थितियों के बेहतरीन आलेख देते हैं खास तौर से 'मोर्निंग बिकम्स इलेक्ट्रा', 'लांग डेज़ जर्नी इन्टु नाइट' या 'हूज़ अफ्रेड आफ़ वर्जीनिया वूल्फ़' जैसे नाटकों में मध्यवित्तवर्ग की इन्हीं जटिलताओं को पकड़ने की कोशिश हुई।

दरअसल आर्थिक-सामाजिक तनाव ऐसे वर्ग के व्यक्ति की मनोचेतना को मरोड़ते और दबाते हैं और उसमें असाधारण और अस्वाभाविक गढ़े या सूजन पैदा कर देते हैं। ऐसे टेढ़े-मेढ़े, पिचके, सूजे चरित्रों की गाथाओं ने लेखक को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इसमें सन्देह नहीं कि इस तरह के लेखन की उपज कहीं पश्चिम के ऐसे लेखन की छाया में हुई, लेकिन उसने हमारे यहाँ स्वाभाविक जड़ें इसलिए पकड़ीं कि हमारा लेखक वर्ग भी अधिकांशतः इसी मध्यवित्तवर्ग का सदस्य रहा है। वह स्वयं भी अपने पात्रों को कहीं न कहीं जी चुका है।

साहित्य की दूसरी विधाओं में, कविता, कहानी या उपन्यास में यह ज्यादा व्यापक और सहज प्रवृत्ति रही है। नाटकों में मध्यवर्गीय मनो-जटिलता अपेक्षाकृत कम कथासूत्र दे सकी है इसमें संदेह नहीं। ऐसे नाटक जीवन के जिस अनुभवखण्ड को उठाते हैं उसकी स्वीकृति की अपनी सीमाएँ हैं।

इन सीमाओं पर विचार भी आवश्यक है।

मध्यवित्तवर्ग की अपनी आर्थिक सीमाएँ हैं। वह एक निश्चित मात्रा में ही और अक्सर बहुत सोच-समझकर, ऐसी किसी चीज में पैसा खर्च करेगा जिसका सम्बन्ध रोटी, कपड़ा, मकान, प्रसाधन और शारीरिक सुख से आगे बढ़कर मनोरंजन और उसके बाद संस्कृति या युगबोध में हिस्सेदारी से हो।

सबसे पहले वह रोटी-कपड़ा-मकान पर पैसा खर्च करता है। उससे कुछ अधिक होने पर प्रसाधन तथा दूसरी पारिवारिक सुविधाओं पर। उसके बाद वह मनोरंजन पर पहुँचता है और संस्कृति अक्सर उसका सबसे आखिरी चुनाव होती है। इसके अलावा शिक्षा के एक छिछले स्तर तक पहुँचकर आम तौर पर ज्ञानवान या विवेकी होने से ठहरा हुआ मध्यवर्गीय व्यक्ति किताब से रिश्ता कालेज से निकलने के बाद ही तोड़ लेता है। वह सस्ते मनोरंजन के प्रति अपनी सहज रुचि के लिए यह तर्क खोज लेता है कि उसके अपने ग़म ही क्या कम हैं कि वह किसी गंभीर चीज़ में उलझे।

इसीलिए मध्यवित्तवर्ग की मानसिक जटिलताओं को लेकर जो नाटक लिखे जाते हैं उन्हें देखने या उनसे जुड़ने लायक न तो मध्यवित्तवर्ग के पास पर्याप्त पैसा और समय होता है और न ही ऐसा संस्कार कि वह मनोवैज्ञानिक गुत्थियों की समाज-ऐतिहासिक बारीकियों को समझ-पहचान सके। इसीलिए इस तरह का नाटक जिन लोगों को लेकर लिखा गया होता है उन्हीं लोगों से दूर और कटा हुआ रह जाता है।

चूँकि वह एक विशेषवर्ग की जीवन-प्रक्रिया की बारीकियों को लेकर बनी हुई रचना होता है इसलिए उसे उच्चवर्ग भी पूरी तरह पहचान नहीं सकता। उच्चवर्ग में वह कुतूहल भले पैदा कर ले, उसे बाँध नहीं पाता।

निम्नवर्ग की अपनी अलग सीमाएँ होती हैं। तथाकथित सामाजिक के

काव्य संस्कार उसमें नहीं होते। शिक्षा की दृष्टि से आम तौर पर वह शून्य ही होता है। मध्यवित्तवर्ग की समस्याओं से अपरिचय भी उसकी सीमा होता है इसलिए वह भी अपने आपको मध्यवित्तवर्ग की जीवन-प्रक्रिया की विसंगतियों और विकृतियों को लेकर लिखे नाटक से जोड़ नहीं पाता।

इस तरह इस कोटि के नाटकों की नियति होती है उपेक्षा के बीच जीना। ऐसा सारा लेखन इसीलिए बहुत सीमित व्याप्ति वाला होता है। अगर रससिद्धान्त की भाषा में कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि ऐसे नाटकों को वे सामाजिक बिरले ही उपलब्ध होते हैं जो इनमें निहित रस का आस्वादन कर सकें।

यहाँ क्लासिकों और लोकनाट्यों का इसी संदर्भ में थोड़ा-सा जिक्र ज़रूरी है। शास्त्रीय कृतियाँ (जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलम्), जोकि वर्ग विशेष के लिए लिखी जाती हैं, कहीं न कहीं अपनी सार्वभौम पहचान बनाती हैं। इन कृतियों का एक बड़ा हिस्सा ऐसा होता है जो वर्ग सीमा से बाहर आकर कहीं भी और कभी भी प्रभावी होता है। इसका एक बड़ा कारण उसका कथातत्त्व होता है। भारतीय शास्त्रीय नाटकों की एक अनिवार्य शर्त होता था—कथानक का या कथा के चरित्रों का लोकविख्यात होना।

इस दृष्टि से मध्यवर्ग की मानसिक जटिलताओं को लेकर लिखे नाटक और क्लासिक में बहुत बड़ा अन्तर होता है।

नाट्यशास्त्रियों ने अच्छे नाटक की शर्तों में कुतूहल या कथागत उत्सुकता को अनिवार्य माना है। उनका कहना है कि नाटक में उत्सुकता बनी रहनी चाहिए और दर्शक लगातार यह अनुमान लगाने में असफल होता रहे कि आगे क्या होने वाला है।

क्लासिक इस शर्त के भारी अपवाद होते हैं। आम तौर पर उनकी कथा सबको मालूम होती है, अन्त तक ज्ञात होता है, उत्सुकता बनाए रखने वाला उसमें कुछ भी नहीं होता। फिर भी वह दर्शक को बाँधता है। ईडियस की कथा दर्शक को पहले से ही मालूम होती है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में क्या होता है यह दर्शक को पता होता है। रामलीला में कुछ भी दर्शकों से अपरिचित नहीं होता। इसके बाद भी दर्शक इनसे जुड़ता है।

सच बात यह है कि उत्सुकता या सस्पेन्स के इस तत्त्व का आविष्कार रंगचिंतन के किसी मूर्ख ने ही किया है क्योंकि अक्सर ऐसे दर्शक आधुनिक कथातत्त्व के भी मिल जाते हैं जो एक ही प्रस्तुति कई-कई बार उतनी ही रुचि से देखते हैं।

फिर भी जहाँ क्लासिकों में यह तत्त्व नकार ही दिया जाता है वहाँ हम लोग अपने नाटकों के दर्शक को बाँधने के लिए उत्सुकता का यह तत्त्व ज़रूर घुसाते हैं। इस तरह शास्त्रीय नाटकों और वर्तमान यथार्थवादी नाटकों में यह अन्तर हम ज़रूर बना लेते हैं कि जहाँ क्लासिकों का कथानक सुविख्यात होता है वहाँ हम कथा को ज़्यादा से ज़्यादा अनपेक्षित मोड़ और पेंच देने का इन्तजाम करते हैं।

शास्त्रीय नाटक का मनोवैज्ञानिक चरित्र भी आज के यथार्थवादी नाटकों से बिल्कुल अलग होता है। लेकिन शास्त्रीय नाटकों की बहुत बड़ी चारित्रिक विशेषताओं को अक्सर महत्त्वपूर्ण विवेचना का विषय नहीं ही बनाया जाता है। उनकी एक विशेषता होती है स्थान और काल की यूनिटी का अभाव और दूसरी बड़ी विशेषता होती है नाटक को यथार्थ के रूप में नहीं केवल एक अनुकृति और नकली प्रस्तुति के रूप में पेश करना।

यथार्थवादी नाटक और विदेशी नाटक (क्लासिकों सहित) यथार्थ का भ्रम पैदा करते हैं। भारतीय शास्त्रीय नाटक इस भ्रम की परवाह नहीं करते; बल्कि सूत्रधार स्वयं ही घोषणा कर देता है कि सभा में एक खेल दिखाया जाने वाला है।

यथार्थ के भ्रम का अभाव और देश-काल की यूनिटी की उपेक्षा, ये दोनों तत्त्व शास्त्रीय नाटकों ने लोकनाट्यों से लिए हैं। लोकनाट्यों और भारतीय शास्त्रीय नाट्यों की इन दोनों विशेषताओं को कभी-कभी आधुनिक यथार्थवादी लेखकों ने भी शिल्प-विशेष के रूप में प्रयुक्त करने की कोशिश की है। यह कोशिश इन नाटकों के कथ्य को पैना बनाती है लेकिन फिर भी उस मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के लिए असमर्थ बना देती है जो वर्तमान मध्यवर्गीय व्यक्ति आज झेलता भोगता है। बल्कि अक्सर इस शिल्प के प्रयोग द्वारा चरित्रों की यथार्थवादी प्राथमिकता लुप्त हो जाती है और वे एक आयाम वाले चिह्न भर रह जाते हैं। वे चरित्र जीवित

मानव न रह कर प्रकारपरक (टाइप) पुतले बन जाते हैं।

ब्रेख़्त गोकि चरित्रों में यथार्थ का भ्रम पैदा करने का विरोधी था और नाटक के ज़रिए संवेगात्मक सम्प्रेषण सही नहीं मानता था, फिर भी उसकी प्रस्तुति में अक्सर ऐसा संवेगात्मक घनत्व पैदा हो जाता था जहाँ दर्शक दृश्य से एकात्म हो सके और पात्र के साथ भावुक हो जाय। मार्टिन एस्लिन ने हेलेन वीगल द्वारा माँ की अभिव्यक्ति में इस सचाई की तरफ संकेत किया है।

ऊपर हमने पति-पत्नी के रिश्ते में तनाव की एक ऐसी स्थिति का जिक्र किया है जिसमें दोनों का या दोनों में से किसी एक को लम्बी-लम्बी अवधियों के लिए अलग रहना पड़ता है। चारित्रिक जटिलताओं की यह बहुत सरल और प्रारम्भिक स्थिति है। अक्सर पति की चरित्रगत और आचरणगत विशेषताओं का पत्नी के मनोविज्ञान पर असर पड़ता है और पत्नी की ऐसी ही विशेषताओं का पति के मनोविज्ञान पर।

'आधे अधूरे' एक ऐसा उदाहरण है जिसमें इसे बहुत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पति एक लिजलिजा-सा बग़ैर चेहरे का अधूरा-सा व्यक्ति है। पत्नी अक्सर उसके अधूरेपन की क्षतिपूर्ति दूसरे पुरुषों द्वारा करना चाहती है, लेकिन वे भी कहीं न कहीं उतना ही अधूरापन छोड़ जाते हैं। इससे भी जटिलतर स्थिति 'मोर्निंग बिकम्स इलेक्ट्रा', 'लांग डेज़ जर्नी इन्टु नाइट' या 'हूज़ अफ्रेड आफ़ वर्जीनिया वूल्फ' में देखी जा सकती है। यह स्थिति पारस्परिक सम्बन्धों की भाषा के दुर्बोध हो जाने की है। 'हूज़ अफ्रेड…' में सम्बन्धों की भाषा इतनी अपरिभाषेय, दुर्बोध और जटिल हो जाती है कि चारों स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के सम्बन्धों को पहचानने की भरसक कोशिश में और ज्यादा धुंध और जाले में लिपटते जाते हैं, यहाँ तक कि वे अपने-अपने अपरिचय की पोटलियाँ भर रह जाते हैं।

'लांग डेज़ जर्नी इन्टु नाइट' में किशोर हो आए बच्चों की माँ को सहसा एहसास होना शुरू होता है कि उसकी उम्र ढल रही है और उसके बाल कुछ पकना शुरू हो गए हैं।

वयवृद्धि का यह एहसास आम तौर पर बहुत गंभीर घटना नहीं लगता, लेकिन किसी स्थिति में यह एक भयावह दुःस्वप्न हो जाता है। वे स्थितियाँ

औद्योगिक-यांत्रिक नगर सभ्यता की जीवन-पद्धति में अक्सर अनचाहे और अनजाने एक सड़न के रूप में पैदा होती हैं। तंग मकानों में सीमित आर्थिक साधनों के साथ जीने वाली किसी महत्वाकांक्षी लड़की का साक्षात् प्रसार-माध्यमों द्वारा अपरिमित वैभव और सुख-सुविधा की दुनिया से होता है। विवाह होने तक वह जबर्दस्त स्वप्नजीवी हो जाती है और उसे लगता है कि पिता के सीमित घर से बाहर आते ही विवाह करके जहाँ उसकी दुनिया बसी, वह अपने उन तमाम सपनों को साकार कर लेगी। विवाह के बाद भी उतनी ही ज्यादा सीमाओं का सामना उसे करना होता है। वह विदेशी प्रसाधन रखना चाहती है, कार और बँगलों की भरमार फिल्मों में देखती है और हवा में उड़ना चाहती है। वह लगातार यह सोचती है कि उसका पति अगली पदोन्नति के बाद उसके हालात बदल देगा। फिर परिवार बढ़ने लगता है और देखते-देखते बारह-पन्द्रह बरस का एक ऐसा व्यस्त समय गुजर जाता है जब वह अपने आपको लगभग भूल ही जाती है। अब जब उसे होश आता है तो वह पाती है, जिस चेहरे पर वह हालिवुड का पाउडर लगाना चाहती थी वहाँ कुछ शिकनें आ गई हैं, होंठ थोड़े साँवले पड़ गए हैं और शरीर का आकार पहले जैसा नहीं रहा।

यहाँ आकर पहली बार लम्बी अवधि से सँजोए सपने टूटने का एहसास होता है, कल्पना में बनाई बेहतरीन दुनिया खण्डित होती है और वहाँ खुशबू के बजाय गर्द उड़ना शुरू हो जाती है। यही वह बिन्दु है जहाँ यकायक अब से पन्द्रह-बीस बरस पहले की स्वप्नजीवी लड़की औरत हो जाती है और कनपटियों के पके बाल छूकर चीख़ पड़ना चाहती है।

स्वप्न भ्रंश नगर जीवन की मध्यवर्ग के साथ एक डरावनी घटना है। यह स्वप्न भ्रंश हर पुरुष के साथ भी होता है। पढ़ते समय वह जो भविष्य देखता रहता है वह उससे बिल्कुल अलग होता है जिसका सामना उसे दुनिया में आकर करना होता है।

स्वप्न भ्रंश के अलावा एक और बड़ी घटना होती है अपनी अभिरुचि और आकांक्षा से अलग और अक्सर बेहद नीरस और यांत्रिक स्वभाव की रोज़ी। बड़े बनने का सपना देखने वाला जब यकायक किसी दफ्तर की धूल खाई घिसी हुई सस्ती मेज़ पर चूहों से कुतरी फाइलों से जूझता हुआ

दिन बिताता है तो निश्चय ही अपने एक हिस्से की मृत्यु देखने की तैयारी कर लेता है। कभी कलाकार बनने के सपने देखने वाला व्यक्ति नहर विभाग का दफ्तरी हो रहता है और वैज्ञानिक या चिकित्सक वनने की साध लिए हुए व्यक्ति किसी किराने के काउण्टर पर खड़ा कर दिया जाता है। इस तरह गलत जगह फंस गए होने का एहसास उसे अन्दर ही अन्दर खाता है और वह न सपने के प्रति न्याय कर पाता है और न ही पेशे के प्रति ईमानदार हो पाता है। वह अपने प्रति नियति की क्रूरता के बदले में समाज और परिवेश के प्रति क्रूर और निर्मम हो उठता है।

परिवार के दूसरे सदस्यों के प्रति उसके रिश्तों में भी एक टेढ़ापन आ जाता है। कभी-कभी वह अपनी नियति का समूचा दोष अपने पिता पर डालने लग जाता है। पिछले कुछ दशकों में माता-पिता के प्रति इस आस्था में भारी दरार पैदा हुई है।

उसके धार्मिक विश्वासों में भी समानान्तर विकार पैदा होता है। ज़्यादा पढ़ पाने के योग्य वह न समय निकाल पाता है न सुविधा, लिहाज़ा वह या तो सनकी हो जाता है या अन्धविश्वासी। ऐसे बहुत-से लोग समाज में देखे जा सकते हैं जो धर्म के कर्मकाण्ड को अत्यन्त जड़ रूप में ग्रहण करके उसके प्रति यांत्रिक समर्पण कर देते हैं और इस तरह लगभग अर्ध-विक्षिप्त या फिर घोर विरक्त जीवन बिताते हैं।

परिवार के छोटे बच्चों की नियति में इसी के अनुपात में इनके बहु-गुणित योग वाले प्रभाव देखे जा सकते हैं।

इन पात्रों का नाटकीय अध्ययन (या इन पात्रों पर रंग रचना) एक बड़ी ज़िम्मेदारी और संवेदनशीलता का काम है। यह दुर्भाग्य ही है कि कम से कम हिंदी में बहुसंख्यक रंगकर्मी ऐसे हैं जो समाज के इन चरित्रों की इतनी सूक्ष्म पकड़ से दूर रह जाते हैं। इसका एक बड़ा कारण उनकी अपनी मध्यवर्गीय सीमाएँ भी हैं। जिन शिक्षण संस्थाओं में रंगप्रक्रिया का प्रशिक्षण दिया जाता है वहाँ दाखिला किशोर अवस्था में होता है। आम तौर पर हाईस्कूल जैसी साधारण शिक्षा के बाद ही रंगप्रशिक्षण शुरू हो जाता है। इस प्रशिक्षण के दौरान छात्रों को यह सुविधा नहीं मिल पाती कि वे दर्शन, समाजदर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान, विज्ञान और दूसरे ज्ञान-

क्षेत्रों से साक्षात् हो सकें। मनुष्य के वैचारिक इतिहास से साक्षात् की कमी इन रंगकर्मियों को वर्तमान समाज की सदस्य के अन्तरंग की गहरी पहचान से कटा हुआ तो रखती ही है, इतिहास अथवा शास्त्रीय-पौराणिक आख्यानों से जुड़े घटनाक्रम की परिभाषा में भी अक्षम बनाती है।

मैं यह जानता हूँ कि अधिकांश रंगकर्मियों को यह बात बुरी लग सकती है, लेकिन ब्रेख्त या स्टेनिस्लाव्स्की हो सकने की प्राथमिक शर्त यही होती है। इसके बिना शंभु मित्र या उत्पलदत्त भी नहीं हुआ जा सकता।

मध्यवर्गीय समाज का भाष्य करने वाले यथार्थवादी रंगमंच की दिशा में अच्छा काम इधर शुरुआत होते-होते कुंठित हुआ है। 'आधे अधूरे', 'बाक़ी इतिहास', 'खामोश अदालत जारी है' जैसे कुछ नाटकों के बाद यकायक प्रवृत्ति रंगशिल्प-प्रधान हुई है और ऐसी रचनाओं की अपेक्षा राजनीतिक खोखलेपन को लगभग उसी स्तर पर उतर कर चित्रित करने वाले नाटकों का चुनाव हुआ है।

ऊपर जिन रचनाओं का उल्लेख हुआ है वे इत्तफ़ाक से फलकों के सहारे कमरे की चार में से तीन दीवारें, खिड़कियाँ और दरवाज़े खड़े करके प्रस्तुत होना शुरू हुईं और अन्त तक एकाध कम परिचित प्रस्तुति छोड़कर, वहीं ठहरी रहीं। रिश्तों की सड़न ने प्रस्तुति के उपादानों के समानान्तर आविष्कार नहीं देखे। आधे अधूरे की मेज-कुर्सियों और बाक़ी इतिहास की मेज-कुर्सियों में अन्तर नहीं दिखेगा; बल्कि लगभग वही फर्नीचर दोनों में इस्तेमाल भी किया जा सकता है। रंगकर्मी को इसमें अन्तर करने की आवश्यकता उस समय ज़रूर महसूस होगी जब वह इन उपादानों को चरित्रों की मनस्थितियों से जोड़ सके। आखिर पिकासो, पालक्ली और मैक्स बेकमान की कुर्सियों में ऐसी समानता आप नहीं खोज सकते। साल्वेदार दाली और ब्रेक के चित्रों में ऐसे उपकरण, जीवन में व्यवहृत होने वाली ऐसी चीज़ें या दुनिया में दिखाई देने वाला वस्तुसत्य इस तरह एकरूप नहीं मिलेगा। व्यक्ति की वैचारिकता और मानसिकता उसके परिवेश के ज़ाहिरा रूप की पहचान को प्रभावित करती है। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि उसी मनस्थिति के कारण परिवेश में अनुपस्थित कोई चीज़ उपस्थिति पा जाय। आयोनेसो के नाटक

'आमीडी' में मुख्य चरित्र के कमरे में, दीवारों और मेज तक पर कुकुर-मुत्ते उगने लगते हैं। यह पात्र की मनस्थिति का परिवेश पर ऐसा ही एक प्रभाव है जिसमें वहाँ अनुपस्थित कुछ धीरे-धीरे अस्तित्व में आने लगता है।

यथार्थवादी नाटकों की यह एक बहुत बड़ी चुनौती है कि उसकी प्रस्तुति का परिदृश्य कहाँ तक पात्रों के अन्तर्सम्बन्धों के विघटन या उनकी विकृति की भाषा बनता है। अगर मंच पर प्रयुक्त होने वाले सभी उप-करण ऐसी भाषा नहीं बन सकते तो उनका वहाँ होना नाटक के साथ अन्याय होगा। जहाँ हम अभिनय, सम्मूहन, गति और संवादों में नाटक का अन्तरंग परिभाषित करते हैं वहाँ प्रस्तुति के दूसरे उपकरणों को भी समानान्तर भाषा का रूप देना अनिवार्य होना चाहिए।

कुछ नई प्रस्तुतियों में फलकों और फर्नीचर का उपयोग किए बिना मात्र ऊँचे-नीचे चबूतरों और चौकोर आसनों भर का प्रयोग भी किया गया है। यह प्रस्तुति के लिए एक चुनौती ज़रूर होती है, लेकिन एक अतिरिक्त भाषा के आविष्कार से कतराने वाला प्रयास होता है।

लेखन, कविता, उपन्यास आदि के विपरीत नाटक एक भाषा का प्रयोग न करके भाषा समूहों का प्रयोग करता है, यानी शब्दों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी भाषाएँ एक साथ, एक ही उद्देश्य से प्रयुक्त होती हैं। इतनी अधिक भाषाओं के सामूहिक प्रयोग के कारण ही इस विधा की सम्प्रेषण शक्ति कई गुनी ज़्यादा हो जाती है। लेकिन प्रस्तुति में प्रयुक्त इन सभी भाषाओं में चारित्रिक एकरूपता ज़रूरी होती है। यह संभव नहीं है कि आप अलग-अलग चरित्र और आचरण वाली भाषाओं को एक ही अर्थ की संपुष्टि के लिए इस्तेमाल में लाएँ। ऐसी स्थिति में अर्थ गहरा होने के बजाय लँगड़ा होता जायगा, उसके संप्रेषण में ऐसी द्विधा पैदा हो जायेगी जैसी उस गाड़ी में हो सकती है जिसके पहिए भिन्न आकार के हों या जिसमें एक घोड़ा और एक कुत्ता एक साथ जोतने की कोशिश की गई हो।

जिस तरह 'अंधायुग' अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की भाषा

में नहीं लिखा जा सकता वैसे ही 'लांग डेज़ जर्नी इन्टु नाइट' बैठक की उन्हीं वस्तुओं के सज्जा-प्रयोग के साथ नहीं किया जा सकता जिनका सज्जा-प्रयोग 'बोइंग बोइंग' जैसे प्रहसन में भी हो सकता है।

भाषा का प्रयोग करते हुए हमारे मन में हर शब्द की एक प्रतिमा बनती है लेकिन इस प्रतिमा का आकार और चरित्र हमारी अपनी मन-स्थिति और परिस्थिति पर निर्भर करता है। पेड़ शब्द से मैदानी हरे-भरे इलाके में रहने वाले के मन में अक्सर भरे हुए आम, नीम, इमली जैसे दरख्त की प्रतिमा बनेगी, पहाड़ पर के आदमी के दिमाग में देवदार और सरो की प्रतिमा बनेगी और रेगिस्तान में आदमी के दिमाग में खजूर के पेड़ की प्रतिमा बनेगी। कुर्सी शब्द से किसी अफ़सर के ज़ेहन में जो प्रतिमा बनेगी वह उस अपराधी की प्रतिमा से बिलकुल अलग होगी जिसे बिजली की कुर्सी पर मृत्युदण्ड दिया जाना है। बार्बिचुरेट का नशा करने वाले व्यक्ति के लिए शब्दों की प्रतिमाएँ ही अलग नहीं होतीं बल्कि उनका वस्तुसत्य भी आम आदमी के वस्तुसत्य से बिल्कुल ही अलग हो जाता है। अलग-अलग मनस्थितियों के दबाव में दृश्य जगत का स्वरूप कैसे वास्तविकता से भिन्न हो जाता है इसका व्यापक अध्ययन मनोवैज्ञानिकों ने किया है। फूल जैसी सुन्दर लगने वाली चीज़ भी किसी मनस्थिति में काँटे से ज़्यादा तकलीफ़देह लग सकती है।

ज़ाहिर है, जिस नाटक में पात्र को फूल काँटे से ज्यादा तकलीफ़देह लग रहा है उसमें फूल को उस रूप में दिखाना जिस रूप में वह आम आदमी को खुशगवार लगता है, पात्र के साथ अन्याय तो है ही नाटक से एक भाषा छीनना भी है। ऐसे नाटक में फूल के फूलपन को काँटेपन में बदलकर पेश करना होगा। कविता, चित्रकला या मूर्तिकला ने यह साधारण-सी बात सीख ली है और वहाँ आज कोई ऐसी गलती नहीं करता, लेकिन रंगमंच पर यह गलती कहीं भी और कभी भी दुहराई जाती देखी जा सकती है।

मज़े की बात तो यह है कि नाटककार अक्सर इतनी सावधानी बरतता है कि वह कथ्य के समानान्तर वस्तुजगत में मनस्थिति और

परिस्थितिजन्य विरूपण कर ले, लेकिन रंगकर्मी इसकी ज़रूरत नहीं समझ पाता कि वह संवाद के अतिरिक्त प्रयुक्त होने वाली रंगमंचीय भाषाओं में भी वह अन्तर्सत्य उतारे। आयोनेसो का नाटक 'चेयर्स' एक ऐसे घर का नाटक है जो चारों ओर से ठहरे हुए सर्द पानी से घिरा है। उसमें लोग आते हैं और काल्पनिक रूप से उपस्थित उन लोगों के लिए रखी गई कुर्सियों से कमरा भर जाता है। प्रस्तुति में कुर्सियाँ सजाते जाना रंगभाषा का बेहद इतिवृत्तात्मक और भोथरा प्रयोग है। हर कुर्सी पर अलग-अलग चरित्र बैठाए गए हैं। यह उतना ज़रूरी नहीं है कि वहाँ कुर्सी हो जितना ज़रूरी यह है कि वहाँ उस चरित्र की उपस्थिति हो। वह व्यक्ति भी हो सकता है और वस्तु भी। वह एक डिब्बा भी हो सकता है, एक सीढ़ी भी, एक ढोल भी हो सकता है और एक टब भी, एक ग्रंथ भी हो सकता है और एक साइकिल भी इत्यादि। इस तरह कुर्सियों की इतिवृत्तात्मकता के बजाय वह एक ऐसा कबाड़खाना हो सकता है जिसमें पारस्परिक संगति कोई न हो सिर्फ़ वह सब बूढ़े-बूढ़ी को अपने दायरे से बाहर किनारे धकेल देने के लिए हो।

यहाँ आकर रंगप्रस्तुति नाट्यप्रयोग से कुछ अधिक हो जाती है बल्कि वह रंगभाष्य की जिम्मेदारी अपना लेती है। माना तो यही जाता है कि निर्देशक नाटक का भाष्य करता है, लेकिन आम तौर पर वह इस काम का इतना अधूरा दायित्व निभाता है कि उसकी प्रस्तुति को प्रस्तुति भर ही कह कर काम चलाया जा सकता है। प्रस्तुति को भाष्य बनने के लिए रंगभाषा के अभिनयात्मक और एक आयामी स्वरूप से आगे बढ़कर बहु-आयामी जटिलतर स्वरूप को खोजना होता है। रंगभाष्य का अर्थ होता है नाटकीय स्थिति, संबंध, घटना या वाक्य की मनोवैज्ञानिक, समाज-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक व्याख्या करना और यह व्याख्या भी सिर्फ़ शब्दों की भाषा में नहीं समूची रंगप्रक्रिया के विविध विकल्पों की भाषा में एक साथ और एक ही नाटकीय क्षण में करना।

नाट्यलेखन की प्रासंगिकता का सवाल यहाँ एक बार फिर उठाया जा सकता है। कोई भी ऐसी रंगरचना प्रासंगिक होती है जो इतिहास के किसी भी काल के किसी भी यथार्थ का उसके दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक,

आर्थिक-सामाजिक सन्दर्भों में भाष्य करती हो, चाहे उस यथार्थ का दायरा ऊपरी तौर पर कितना ही छोटा क्यों न लगता हो। इतिहास के किसी एक क्षणांश में यथार्थ के सूक्ष्मतम बिन्दु की भी पहचान करा सकने वाली रचना प्रासंगिक होती है।

—मुद्राराक्षस

सन्तोला

[दो अंकों में समाप्य नाटक]

• प्रस्तुति पूर्व टिप्पणी •

[इस नाटक में बड़े पैमाने पर स्वगत का इस्तेमाल हुआ है। जहाँ कहीं भी ये स्वगत आते हैं उनका अर्थ यह हो जाता है कि उनके पहले के दृश्यखंड का पात्र-विशेष की मनस्थिति के रूप में प्रतिफलन हुआ। स्वगत बोलने वाले पात्र में उससे पहले की घटना का सारा प्रभाव केन्द्रित हो जाता है।

इन्हीं स्वगतों को दृश्यान्तर या कालान्तराल के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है।

समूचा नाटक दो खण्डों में विभक्त है। ये दो खण्ड दो अंक माने जा सकते हैं, लेकिन दोनों अंकों की घटनाओं में भी कई-कई दिन की अवधि है। चूँकि सारे पात्र एक ऐसी गुफ़ा में कैद हैं जहाँ न दिन है न रात, सिर्फ़ ठहरे हुए अंधेरे में जीते होने का एहसास भर है इसीलिए एक दिन या दो-चार दिन बीतने का सिलसिला अलग दृश्य द्वारा नहीं दिया गया है।

अँधेरे में एक-दूसरे को पहचानने का निरन्तर प्रयास करते हुए पात्र धीरे-धीरे मृत्यु की ओर सरकते जाते हैं। मृत्यु का दबाव उनकी संवेदनाओं और संवेदनशक्तियों को भी धीरे-धीरे विकृत करता है। कभी-कभी मृत्युभय यकायक उन पर झपट्टा मारता है, उस समय उन पात्रों की संवेदनाओं में बलात् और एक झटके से भी विकृति के कुछ क्षण उभर आते हैं।

ऐसे सभी अनुभवों को अलग-अलग पात्रों के इन्द्रियजन्य अनुभवों में व्यतिक्रम और व्याघात के रूप में दिया गया है मस्लन् कोई पात्र विद्रूप हँसी हँसता हुआ लगता है गोकि वह हँस नहीं रहा होता है। कभी कोई पात्र दूसरे को संबोधित करता है और दूसरे तक पहुँची आवाज़ उसे आवाज़ न लगकर उस पर डाली हुई तेज़ रोशनी लगती है।

यौन भावना विकृत होकर सीधी भूख के साथ जा मिलती है और यौनतृप्ति मानव मांस भक्षण जैसी विकृति में परिवर्तित हो जाती है। सन्तोला के इस विकार से परिचित होते ही प्रो० सरन को लगता है गुफ़ा में एक औरत नहीं कोई हिंस्र पशु मौजूद है और वह नाहक उस काल्पनिक पशु से लड़कर सन्तोला को मार देता है।

इस नाटक में ये जटिलताएँ होने के बावजूद नाटकीय निर्देश लगभग नहीं के बराबर हैं। इसका कारण है निर्देशक को प्रस्तुति की स्वतंत्र खोज का अवसर देना। इस तरह यह नाटक स्वयं प्रस्तुति का कोई प्रारूप पेश नहीं करता जबकि आम तौर पर हर नाटक लेखक की ओर से उसकी अपनी प्रस्तुति की परिकल्पना होता है।

इस नाटक के दो छोटे अंश, पहाड़ी पर चढ़ाई और भुवन तथा सन्तोला के अंतरंग प्रसंग, उजाले में होते हैं लेकिन नाटक की प्रमुख और विस्तृत घटना उस वक्त होती है जब सरन, सन्तोला और सुखबीर गुफा में फँस चुके हैं और वहाँ घना अँधेरा है।

अँधेरे में नाटक की इस परिकल्पना के लिए लेखक का अपना कोई सुझाव नहीं है और 'ब्लैक कामेडी' की युक्ति का सहारा लेने का कोई इरादा नहीं।

प्रस्तुत नाटक में इतिहास, संस्कृति और वाङ्मय के कुछ सन्दर्भ हैं। इनमें से एक मुख्य संदर्भ दीपंकर श्रीज्ञान का है।

दीपंकर श्रीज्ञान उन अनेक विद्वान बौद्ध भिक्षुओं में से थे जो समय-समय पर भारत से हिमालय के कठिन रास्ते पार करते हुए तिब्बत गए और वहाँ ओझाओं के जादू-टोने वाले अंधविश्वासों के विरुद्ध बौद्ध ज्ञान-दर्शन की स्थापना का प्रयत्न करते रहे। इनमें से अधिकांश बौद्ध भिक्षुओं को भारी यातनाएँ सहनी पड़ीं और उनकी हत्याएँ हुईं।

ग्यारहवीं सदी के दीपंकर श्रीज्ञान इन सभी भिक्षुओं में सबसे ज़्यादा अदम्य थे। उन्हें तिब्बत लाने वाले राजा-भिक्षु ह्‌खोरल्दे या ज्ञानप्रभ को भी ओझाओं ने कहीं क़ैद कर दिया था और सम्भवतः कैद में ही उनकी मृत्यु हुई। उन्हें जहाँ कैद किया गया था उसी स्थान की खोज की कोशिश में प्रो० सरन लगा हुआ है। कहीं ओझाओं के उस अन्धविश्वासी संसार और ज्ञानप्रभ की नियति से सरन का अन्तर्मन भी संत्रस्त है।

ल्हासा के राजकुमार द्‌पाल-ह्‌खोर-बत्सन (९०६-२३ ईसवी) तिब्बत गए जहाँ बाद में उनके तीन पुत्रों ने तीन राजवंशों की स्थापना की। इन राजवंशों ने अपरिमित बौद्ध साहित्य तिब्बती भाषा में अनूदित कराया या लिखाया और कितने ही बौद्ध भिक्षुओं को प्रश्रय दिया। 'ज्ञानप्रभ' या 'ह्‌खोर-ल्दे' इन्हीं महत्त्वपूर्ण राजाओं में से एक था। वह स्वयं भी बौद्ध भिक्षु हो गया था। बिहार के विक्रमशील विहार के प्रसिद्ध विद्वान बौद्ध भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान को इसी ने तिब्बत बुलाया था। इनके प्रभाव में जो सम्प्रदाय वहाँ चला उसे 'बकह्‌-ग्दम्स-प' कहा जाता है।

[एक अनुरोध : प्रस्तुतकर्त्ताओं से अनुरोध है कि वे इस नाटक के आलोक की स्थितियों, चरित्रों, संवादक्रम, संवाद और भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन न करें। परिवर्तन आवश्यक लगने की स्थिति में किसी अन्य नाटक का चुनाव किया जा सकता है।]

पहला अंक

पहाड़ी इलाका

(वृद्ध की आवाज़ नेपथ्य से आती है। मंच पर सिर्फ सुखबीर है। सरन प्रवेश करता है। दूर पर संतोला की हँसी)

वृद्ध : (सिर्फ आवाज़ आती है) मेम साब लाफ़ नाट—आई टेल —माउण्टेन वेरी बैड। वेरी बैड—

(सन्तोला की हँसी)

प्रो॰सरन : (आता है। हाथ में कलाई की घड़ी) सुखबीर—सन्तोला—

सुखबीर : सर—

सरन : ये—वो क्या कहते हैं—मैं कुछ पूछ रहा था—हाँ टाइम क्या हुआ ? यहाँ पहाड़ों पर क्या घड़ियों में गड़बड़ियाँ होने लगती हैं ? अभी तक तो यह ठीक चल रही थी।

सुखबीर : दो बजकर ग्यारह मिनट—

सरन : ओह ! ठीक ही है। वक़्त ठीक ही है। (घड़ी बाँधता है। दूर पर सन्तोला की हँसी)

वृद्ध : (सिर्फ आवाज़) माउण्टेन वेरी बैड—वेरी बैड—

सरन : (आवाज़ के लिए ठिठककर) वो बैग मुझे देना सुखबीर। अजीब जहालत है। इण्डॉलजिस्ट बनते हैं। किताबें पढ़ते हैं, अंग्रेजी में। पाली और संस्कृत में ही नहीं तिब्बती में हैं किताबें। दमाग़ लगता है। तमग़े से इण्डालजी नहीं आती। ग्राण्ट नहीं देंगे। ग्राण्ट नहीं देंगे तो जैसे कोई कुछ कर नहीं पाएगा।

जैसे—जैसे ग्राण्ट पाकर ही तो दीपंकर श्रीज्ञान आतिश हो गया था—स्नाबस।—ये देखो चौथा अध्याय।—वैसे यह याद रखना, इन्स्टीट्यूट अब ग्राण्ट देगा भी तो नहीं लूँगा।—सन्तोला कहाँ है?

सुखबीर : जी?

सरन : अजीब बात है। उसे जैसे ख़याल ही नहीं है।—एक पूरा चैप्टर ह्‌खोरल्दे पर मिला था। वो वहीं कैद था जहाँ मैं कहता रहा हूँ और मैं उस गुफा को खोज निकालूँगा।—

वृद्ध : मेम साब आई से ट्रूथ—गो नाट—

सरन : सन्तोला कहाँ है?

सुखबीर : जी, शायद—

सरन : आखिर—मेरा मतलब है वह इतना वक्त क्यों बर्बाद करती है। जाने किस खब्ती से बात कर रही है। तो मैं क्या बता रहा था—

सुखबीर : ह्‌खोरल्दे—

सरन : मैं जानता हूँ उसे। जादूगरों के गिरोह ने यहीं कैद करवाया था।

(सन्तोला की हँसी)

बूढ़ा : **(नेपथ्य से)** मेम साब लाफ़ नाट—आई टेल—माउण्टेन वेरी बैड—गो नाट—

सरन : समझते हैं ग्राण्ट नहीं देंगे तो काम नहीं होगा। अब अगर ग्राण्ट देंगे तो भी नहीं लूँगा। समझे? तुम देख लेना। देंगे भी ग्राण्ट, तो नहीं लूँगा। मुँह पर फेंक मारूँगा। मुझे जो मिलना था मिल गया—बहुत बर्दाश्त कर ली है इनकी कान्स्पीरेसी—मजाक़ समझ रखा है—क्लिक बनाना चाहते हैं—देखूँगा—

बूढ़ा : **(नेपथ्य से)** ही—वेरी ऐंग्री—ग्रेट मिरेकिल—माउण्टेन ग्रेट मिरेकिल—गो नाट—मैन डेड—

(सन्तोला की हँसी)

(सरन बेचैन होकर दूसरी ओर झाँकता है)

सरन : सन्तोला—सन्तोला—किससे बात कर रही हो आखिर तुम वहाँ ?—क्या हो रहा है ?

(सन्तोला आती है मगर दूसरी तरफ देखती हुई)

सन्तोला : मैं ? मैं किससे बात करती यहाँ ? मैं तो किसी से बात नहीं कर रही थी।

सरन : मगर तुम—वो बूढ़ा आदमी—वो—

सन्तोला : कौन—यहाँ कौन था ?

सरन : अजीब अंग्रेजी में कोई बोल नहीं रहा था ? अभी—तुम अभी हँस नहीं रही थीं ?

सन्तोला : मैं ? नहीं तो। मैं तो वो जुलूस देख रही थी—

(बौद्ध भिक्षुओं का मंत्रपाठ उभरकर सुनाई देता है। सरन सन्नाटे में आ जाता है।)

सन्तोला : ये बौद्ध भिक्षुओं का जुलूस है न ?

सरन : ——

सन्तोला : ये लोग क्या कह रहे हैं ?

सरन : छोड़ो उसे। तुम इधर आओ। तुम लोगों को वक्त की बर्बादी का ज़रा सा भी एहसास नहीं होता।

सन्तोला : ये लोग कह क्या रहे हैं ?

सरन : कोई भिक्षु मर गया है।

सन्तोला : यहाँ ऐसी आवाज़ में यह मंत्रपाठ कैसा भयानक लगता है !

सरन : अँ ? हाँ—चलो अब तैयार हो जाओ। सामान उठाओ। काफी देर आराम कर लिया है। अभी खासी चढ़ाई बाकी है। इसी तरह वक्त बर्बाद करते रहे तो रास्ते में ही रात हो जाएगी। अभी कोई ग्यारह बज रहा है, अगर हम ज़रा सी मेहनत करेंगे तो तीन-साढ़े तीन बजे तक उस गुफा तक पहुँच जाएँगे।

सन्तोला : सुनिए, एक बार आपने बताया था—महाभारत में चेतावनी दी गई थी—न कथंच न गंतव्यं कुरूणामुत्तरेण वः—उत्तर कुरु के उत्तर मत जाना—

सरन : चलो सामान उठाओ, सुखबीर—

सन्तोला : लाओ थोड़ा सा सामान मुझे भी दे दो—

सरन : ले चलने दो उसे—

सन्तोला : नहीं। लाओ इधर। आप इसकी जान ले लेंगे। कितना तो सामान है और ऊपर से चढ़ाई।

सरन : अब चलो भी। देर हो गई तो अँधेरे में वापसी नामुमकिन ही हो जायेगी।

(सन्तोला कुछ सामान लेना चाहती है)

सुखबीर : नहीं, आप रहने दीजिए।

सन्तोला : अरे छोड़ो भी। यह बैग कौन सा भारी है। लाओ।

(उसका हाथ पकड़कर चमड़े का थैला ले लेती है। प्रोफेसर सरन देखता है। सारा सामान उठाकर वे फिर चढ़ाई चढ़ना शुरू कर देते हैं।)

सुखबीर : सर—सर—वो उधर देखिए—

सरन : क्या है ?

सुखबीर : वो कितनी खूबसूरत चिड़िया—

सन्तोला : सच ? कहाँ ?

सरन : ये वक्त इधर-उधर देखने का नहीं है।

सन्तोला : कहाँ ? किस जगह—

सुखबीर : जी—वो—वो—

सन्तोला : बताओ न कहाँ हैं ?

सुखबीर : वो उस तरफ देखिए—सुर्ख और काली—

सरन : सुखबीर, मैंने कहा न यह वक्त बरबाद करना अच्छा नहीं है और फिर उधर बायीं तरफ देख रहे हो कितनी गहरी खाई है ? इधर-उधर देखते वक्त अगर चूक गए तो हड्डियों का भी पता नहीं लगना।

(सन्तोला नीचे झाँकती है)

सन्तोला : **(स्वगत)** उफ़ कितनी गहरी खाई है जैसे एक विराट कुआँ हो। देखकर टाँगों की पेशियों में मरोड़ उठने लगती है—

वो क्या ऋचा सुनाई थी आपने—त्रितः कूपे अवहितो—त्रित कुएँ में गिर पड़ा तब उसने देवताओं को पुकारा—उसकी आवाज़ किसी ने नहीं सुनी—किसी ने नहीं सुनी उसकी आवाज़—

(प्रोफ़ेसर की ऐसी चीख जैसे वह खाई में जा गिरे हों)

सुखबीर : क्या हुआ सर ? (**सरन सिर थामता है**)

सन्तोला : क्या हुआ आपको ?

सरन : कुछ नहीं, चलो ।—यकायक जाने कैसे—लगा जैसे मेरा पैर फिसला और मैं खाई में जा गिरा—सुखबीर—इसीलिए मैं कहता हूँ इधर-उधर मत देखो—चलो—नीचे देखना हमेशा खतरनाक होता है ।

(थोड़ी चढ़ाई)

सन्तोला : आप वहाँ कह रहे थे; आपने किसी को अजीब सी अंग्रेजी में बातें करते सुना था—

सरन : आँ—हाँ—हाँ—वहम था । वहम था शायद ।

सन्तोला : वहम—

सरन : देखो यहाँ स्लेट पत्थर गिरा पड़ा है। पैर न फिसल जाय कहीं।

सन्तोला : आपने ही तो सुनाया था—उत्तर कुरु के उत्तर की तरफ मत जाना—

सरन : तुम इतने पीछे क्यों रह जाती हो ?

सन्तोला : पीछे ? आप ज्यादा तेजी से चलते हैं—मैं तो—मैं तो थक भी गई—सुखबीर, मैं तो बहुत थक गई भाई—

सरन : देखो ये वक्त थकने का नहीं है । बस थोड़ी सी चढ़ाई और रह गई है। हड़बड़ाने की ज़रूरत नहीं है । मेरी तरह पत्थरों पर पैर जमा-जमाकर आगे वढ़ो—

सन्तोला : पत्थरों पर पैर जमा कर ? शब्दों पर तो जमते नहीं।

सरन : क्या ?

सन्तोला : सुखबीर, तुम इतना वजन लेकर भी कैसे नहीं थक रहे हो ?

सरन : तुमने अभी कुछ कहा था ?

सन्तोला : आँ ? मैंने ? नहीं तो।

सरन : वो शब्दों पर मेरे पैर न जमने की बात—

सन्तोला : आपको वहम हुआ होगा शायद, उसी बूढ़े की आवाज़ की तरह—

सरन : सन्तोला, तुम यह कौन सा मज़ाक कर रही हो ?

सुखबीर : सर, पहाड़ों पर सन्नाटा कैसा डरावना सा होता है !

सन्तोला : इतनी बातें बोलने पर भी तुम्हें सन्नाटा लग रहा है ? इसकी बात सुनिए प्रोफेसर।

(सन्तोला फिसलकर चीखती है)

सरन : क्या हुआ ? सन्तोला—उफ़ गनीमत है बच गईं वरना खाई में पहुंच गई होतीं। इसीलिए कहता हूँ इस तरह बकबक मत करते रहो।

सुखबीर : आपको चोट आई ?

सन्तोला : नहीं। कोई बात नहीं। (**टखना देखती है**)

सुखबीर : देखिए न टखना छिल गया है।—इस पर—इस पर—

सरन : (**ऊँचाई से ही**) ज्यादा छिल गया है ?

सन्तोला : नहीं।

सुखबीर : खून आ रहा है—

सरन : यहाँ तो हम फर्स्ट एड का कोई सामान भी नहीं लाए—

सुखबीर : ठहरिए—अगर—इसमें—(**रूमाल निकालता है**)

सन्तोला : (**मुस्कुराती है**) बाँध दो—

सुखबीर : जी ?

सन्तोला : बाँध दो। रूमाल बाँधना चाहते हो न ? बाँध दो। (**सुखबीर सहमता हुआ रूमाल बाँधता है**) आदमी को तो खुद ही पहल करनी चाहिए।

सरन : सुखबीर, अब जल्दी भी करो। बहुत देर हो रही है।

सन्तोला : (**हाथ बढ़ाकर**) अरे तो अब मुझे ऊपर खींचिए न। आवाज़ ही दिए जा रहे हैं।

सरन : लाओ, हाथ बढ़ाओ—(**सरन उसे ऊपर खींचता है**)

सुखबीर : (**स्वगत**) यह छिला हुआ टखना—पिंडलियाँ क्या इतनी मुलायम भी होती हैं ? प्रोफेसर, यह दुनिया कैसी होती है ? नोट्स, अनुसंधान और किताबों से यह सफ़ेद पिंडलियों वाली दुनिया—यह कैसी होती है प्रोफेसर—

(**कालान्तराल**)

सरन : लो सन्तोला, आखिर हम आ ही गए। खोज ही ली हमने वह गुफा। सुखबीर, टार्च इधर लाना। ये है। यहीं कैद किया गया था ज्ञानप्रभ या ह्‌खोरल्दे—सोचो ज़रा, यहाँ इसलिए वह बन्द कर दिया गया था कि उसने—अब देखूँगा मैं उन लोगों को। ग्राण्ट नहीं देंगे। ग्राण्ट नहीं देंगे तो जैसे कोई काम ही नहीं हो पाएगा। जाहिल कहीं के। दो-चार किताबें अंग्रेजी की पढ़ लीं और इण्डालजिस्ट बन गए—

सन्तोला : उफ्, गुफा कुएँ जैसी गहरी है !

सुखबीर : नीचे सीढ़ियाँ कितनी दूर तक चली गई हैं।

सरन : ग्राण्ट नहीं देंगे। अब देखूँगा उनको।

(**सहसा सन्तोला की हँसी सुनाई देती है गोकि वह हँसती नहीं**)

सन्तोला : (**हँसी के साथ**) त्रित कुएँ में गिर गया—त्रित कुएँ में गिर गया—

सरन : सन्तोला—तुम्हें हँसी क्यों आ रही है ?

सन्तोला : हँसी ? हे भगवान, इतनी भयानक गुफा देखकर हँसी आएगी भला। या डर लगेगा !

सरन : मगर—तुम—अभी—

सन्तोला : मैं हँस तो नहीं रही थी ; बल्कि मैं खामोश हो गई थी। सीढ़ियों का यह सिलसिला कितना अँधेरा और डरावना है—

सरन : टार्च मुझे दो। चलो उतरो—

(**सीढ़ियाँ उतरते हैं**)

सुखबीर : सर, सीढ़ियाँ टूटी भी होंगी, ध्यान रखिएगा—

सरन : तुम अपना ख्याल रखो।

सन्तोला : **(सूँघकर)** कैसी सीलन और बदबू सी है यहाँ हवा में।

(हल्के से सन्तोला हँसती है)

सरन : तुम—तुम हँसी नहीं?

सन्तोला : मैं? हाँ। मैं हँसी—मुझे एक अजीब बात सूझी—शायद ऐसा ही सीलन भरा अँधेरा वहाँ भी होता होगा।

सरन : कहाँ?

सन्तोला : औरत के गर्भ में—इसी तरह का सीलन और घुटन भरा अँधेरा होता होगा—नहीं? और मुझे लगा जैसे हम तीन शुक्राणु हों जो गर्भ की नली में रेंगते उतर रहे हों—वे वहाँ पहुँचेंगे और—

(दूर पर एक धमाका)

सुखबीर : ये आवाज़ कैसी थी?

सरन : कहीं दूर शायद लैण्ड स्लाइड हुई है। हर दस-पाँच मिनट पर इधर कहीं न कहीं लैण्ड स्लाइड होती रहती है।

सुखबीर : ऐसी आवाज़ होती है?

सरन : चलो उतरो। वक्त मत बरबाद करो। अरे—सम्हलकर सन्तोला, यहाँ सीढ़ियाँ टूटी हुई हैं—बस सीढ़ियाँ खत्म हुईं। उधर नीचे बायीं तरफ इतनी बड़ी जगह है कि पचास आदमी एक साथ रह सकते हैं।

(अचानक जबर्दस्त धमाका। वे तीनों लुढ़कते हैं। धूल की वजह से खाँसते हैं)

सरन : सन्तोला। सन्तोला—कहाँ हो तुम? तुम्हें चोट तो नहीं आई?

सन्तोला : नहीं। सुखबीर—कहाँ हो तुम? कहीं चोट तो नहीं आई तुम्हें—

सुखबीर : जी नहीं। **(सभी को खाँसी)**

सरन : सुखबीर ठीक है। तुम खड़ी हो गई हो न?

सन्तोला : हाँ। बिल्कुल ठीक हूँ। बस शायद बाँह में थोड़ी चोट आई है।

सरन : बाँह में? देखूँ?

सुखबीर : सर—सर, हम लोगों का रास्ता बिल्कुल बन्द हो गया।

दरवाजे पर कितनी बड़ी चट्टान अटक गई है।

सरन : लैण्ड स्लाइड हुई है।

सन्तोला : मगर प्रोफेसर—

सरन : घबराओ नहीं। देखेंगे। सुखबीर, क्या रास्ता बिल्कुल ही बन्द हो गया है?

सुखबीर : एकदम। भारी-भारी पत्थर अटक गए लगते हैं।

सन्तोला : सुखबीर, तुम एकदम नीचे आ जाओ। फौरन। अगर कोई पत्थर लुढ़का तो आफ़त आ जाएगी—

सरन : आओ अन्दर आ जाते हैं। यहाँ खड़े रहना सचमुच खतरनाक है। सुखबीर, टार्च है न तुम्हारी?

सुखबीर : जी सर! है।

सरन : दो ज़रा। **(तीनों अन्दर आते हैं। टार्च से देखते हैं)**

सन्तोला : कैसा भयानक कैदखाना है यह!

(फिर वही धमाका। पहले से कहीं ज्यादा। देर तक पत्थर टूटते-गिरते रहते हैं। बेहद धूल। तीनों खाँसते हैं।)

सन्तोला : ओह फिर—

सरन : डरने की कोई बात नहीं है। हम वक्त से अन्दर आ गए वरना अब तक दफ़न हो चुके होते। सन्तोला, तुम डर गई हो?

सन्तोला : लगता है जैसे हमारे पीछे-पीछे एक दैत्य आ रहा था जिसने दरवाज़ा यकायक बन्द कर दिया। कितनी बड़ी-बड़ी चट्टानें यहाँ आकर अटक गई हैं। जैसे किसी ने इस बार हमें कैद कर दिया हो।

सरन : कैद?

सुखबीर : अब क्या होगा सर, हम बाहर कैसे निकलेंगे?

सरन : जिस तरह बिना किसी को बताए हम यहाँ आए हैं उससे तो हमारा पता महीनों किसी को नहीं लगेगा। लाओ ज़रा कुदाल होगी—मुझे दो मैं देखता हूँ—

सुखबीर : आप रहने दीजिए मैं देखता हूँ।

(दरवाज़े के पत्थरों पर कुदाल चलाने लगता है)

सन्तोला : प्रोफेसर—

सरन : घबराओ नहीं, हो सकता है सिर्फ दरवाज़े पर ही पत्थर अड़ गए हों आगे का रास्ता खुला हुआ हो। अगर थोड़ा सा भी पत्थर टूट सका तो—

(सन्तोला की हँसी गूँजती है)

सन्तोला : **(हँसी के साथ आवाज़)** त्रित कुएँ में गिर गया—त्रित कुएँ में गिर गया—

सरन : **(क्षोभ से)** सन्तोला !

सन्तोला : जी।

सरन : क्या बात है ? तुम इस तरह हँस क्यों रही हो ?

सन्तोला : हँसी ? हँसी तो अभी नहीं थी, लेकिन यह सच है कि हँसी आनी चाहिए। हम सबको हँसी आनी चाहिए—

(हँसने की कोशिश करती है। हँसी उभर नहीं पाती। कुदाल की आवाज़ भी रुक चुकी होती है। प्रोफेसर सरन खामोश खड़ा रहता है।)

(कालान्तराल)

(सन्तोला टार्च से चारों ओर देख रही है)

सरन : सन्तोला—यह तुम हो न ? तुम टार्च जला रही हो ?

सन्तोला : हाँ।

सरन : टार्च इतनी मत जलाओ।

सन्तोला : क्यों ? अँधेरे में दम घुटता है। इतना घना, ठोस, काला अँधेरा मैंने जिन्दगी में कभी नहीं देखा। घबराहट होने लगती है। लगता है जैसे किसी ने इस्पात की चादरों में लपेट दिया हो। नहीं, मुझे टार्च जलाने दीजिए।

सरन : टार्च इस तरह कितनी देर जिन्दा रहेगी ? टार्च की रोशनी खत्म हो गई तो हम भी खत्म हो जायेंगे। एक दूसरे को जिन्दगी में कभी न देख पाना जानती हो कैसा होगा ? शायद

मर जाने से ज्यादा तकलीफ़देह होगा । थैले में कुछ खाने को है ?

सन्तोला : हाँ । सैण्डविचेज अभी होंगी । लेकिन शायद दो-एक ही । बिस्कुट होंगे । कुछ खाएँगे ?

सरन : नहीं । भूख नहीं है । तुम खा लो ।

सन्तोला : सुखबीर, तुम कुछ खा लो ।

सुखबीर : नहीं ।

सन्तोला : खा भी लो । चलो ।

सरन : उसे भूख नहीं है तो जबर्दस्ती क्यों खिला रही हो ?

सन्तोला : प्रोफेसर !

सरन : एक दिन बीता या दो दिन बीत गए—

सन्तोला : घड़ी में देखिए न ।

सरन : घड़ी मैं ? हाँ—मगर अब देखकर भी क्या होगा ? घड़ी की सुई खिसकने भर से दिन तो नहीं बदलेगा ।

(सहसा सुखबीर चीखता है)

सुखबीर : कोई है ? बाहर कोई है ? **(बेतहाशा कुदाल चलाता है)** कोई है ? कोई सुन रहा है ?

(बेहद तेज चीख से आवाज भर्राती है, मगर वह चीखता कुदाल चलाता जाता है)

सन्तोला : सुखबीर बेहद डर गया है ।

सरन : डर ? शायद ।

सन्तोला : सुखबीर को इधर ले आइए प्रोफेसर । कोई फायदा नहीं है । रास्ता इस तरह निकलेगा ? मुझे लगता है वह बहुत डर गया है ।

सरन : कोशिश करने में क्या हर्ज है ? मुमकिन है—

सन्तोला : क्या मुमकिन है ? सब बेकार है । इस तरह रास्ता नहीं निकलेगा । अब इस कब्र से हमें कोई नहीं निकाल सकता ।

सरन : मैं इसमें कोई हर्ज नहीं देखता । उसकी समझ की सीमा है, सिर्फ इतनी सी बात है । और फिर—फिर यह बिलकुल बेहूदापन है ।

उसे कोई हक नहीं है कि अपना डर हम सब पर लादे। कोई हक नहीं है। कोई हक नहीं, मैं कहता हूँ—कोई हक नहीं है—

सन्तोला : **(थोड़ी खामोशी के बाद)** सुखबीर ! उसे यहाँ बुला लीजिए प्रोफेसर।

सरन : क्यों ? यहाँ अकेले मेरे साथ बैठने में डर लगता है ?

सन्तोला : **(झल्लाकर उठती है)** डर ? क्या बात करते हैं आप ? सुखबीर, चलो इधर **(पास जाती है)** इधर चलो तुम—

सुखबीर : छोड़ दीजिए मुझे। मुझे छोड़ दीजिए—

सन्तोला : मैं नहीं छोड़ूँगी। **(कुदाल पकड़ लेती है)** छोड़ो इसे। छोड़ दो। चलो अब—मेरे साथ आओ—

सुखबीर : छोड़ दीजिए मुझे। मुझे छोड़ दीजिए—

सन्तोला : चलो इधर बैठो। बातें करेंगे। मन बदलेगा। आप कुछ बात करिए प्रोफेसर।

सरन : तुम लेट जाओ सुखबीर। थक गए होगे।

सन्तोला : ओ हो खड़े क्यों हो, बैठो न। उफ् किस कदर पसीना आ रहा है तुम्हें ! इधर आओ। देखो तो सारा बदन पसीने से तर है। गर्दन और पीठ तो भीगी पड़ी है। उतार दो इसे। उतारो।

सुखबीर : नहीं नहीं, ठीक है।

सन्तोला : क्या ठीक है, बच्चों की तरह झेंप रहे हो। लाओ मैं उतारती हूँ।

सरन : उतार देगा, क्यों परेशान हो रही हो ? छोड़ दो उसे, अपने आप ठीक हो जायेगा।

सन्तोला : अरे तो क्या हुआ। लड़का है। उतारो इसे—उतारो **(कमीज उतरवाती है)** जहाँ दूसरे का चेहरा क्या आकार भी न दिखाई दे रहा हो वहाँ तुम लड़कियों की तरह झेंप रहे हो। अब उस बन्द हुए रास्ते को भूल जाओ। आओ बातें करते हैं—

सरन : **(कुछ सूँघता है)** सन्तोला, तुम्हें कुछ महसूस हुआ ?

सन्तोला : क्या ?

सरन : लगता है हवा में जैसे आक्सीजन कुछ कम हो गई है और फेफड़े

घुटते से हैं।

सन्तोला : आप थोड़ी देर यह सब भूल नहीं सकते ?

सरन : नहीं।

सन्तोला : तो किया क्या जा सकता है फिर ?

सरन : क्या, कहना चाहती हो मैं निरुपाय होकर डर रहा हूँ ? मैं सुखबीर की तरह चीखने नहीं लगता इसलिए सच बात का एहसास भी नहीं करना चाहिए ?

सन्तोला : इसका—इसका क्या जवाब दूँ ?

सरन : क्या मतलब, कहना चाहती हो मैं कोई बहुत वाहियात बात कर रहा हूँ ?

सन्तोला : सुखबीर, कहाँ हो तुम ? सुखबीर ! (**कोई जवाब न पाकर उठती है**)

सरन : मैंने भी कुछ पूछा था।

सन्तोला : हाँ। सुखबीर !

सरन : सन्तोला—

सन्तोला : तुम क्या कर रहे हो सुखबीर, कहाँ हो ?

सुखबीर : जी—

सन्तोला : ओह ! मैं समझी तुम फिर वहीं चले गए।

सरन : मैं भी यहीं हूँ सन्तोला—मैं भी यहाँ हूँ।

सन्तोला : जानती हूँ। चीखे बिना भी आप मौजूद हैं।

सरन : क्या यह सच है ?—यह सच हो सकता है ? बिना चीखे मौजूदगी का एहसास हो सकता है ? तुम सच कह रही हो ? (**लम्बी खामोशी**) जानता हूँ सन्तोला, मेरी इस बात का अब जवाब नहीं दोगी, लेकिन एक बात बताओ, ईमानदारी से बताना—

सन्तोला : यहाँ इस कैद की जिम्मेदार मैं हूँ ?

सरन : बताओ—मैं हूँ इस कैद का जिम्मेदार ?

सन्तोला : यह सवाल आप क्यों पूछ रहे हैं ?

सरन : क्या ?

सन्तोला : यह सवाल आप क्यों पूछ रहे हैं ?

सरन : बस यही। ठीक यही मैं चाहता था। काश यह हो सकता !

सन्तोला : क्या मतलब ?

सरन : सुनना चाहती हो ? सचमुच सुनना चाहती हो न ? यहाँ हम तीन—हम तीनों एक साथ कैद हुए थे और यकीन करो इस कैद का दोषी मैं नहीं हूँ। सन्तोला, हम तीनों को यह कैद एक साथ झेलनी होगी—तीनों को एक साथ—तुम दो अलग इसे नहीं भोगोगे—मैं एक अकेला इसे नहीं भोगूँगा सन्तोला—अकेला नहीं—अकेला नहीं—

सन्तोला : सुखबीर, तुम एक दम गुमसुम हो गए ? बिल्कुल चुप हो गए ? —(**सन्नाटा**) क्या करूँ, तुम चीखते हो तो तकलीफ होती है और चुप होते हो तो एकदम ऐसे जैसे अँधेरे में कहीं जम गए हो—सुखबीर—

(**सरन टार्च से कलाई घड़ी देखता है**)

सरन : वक्त क्या हुआ है—सुखबीर, वक्त क्या हुआ है ?

सुखबीर : जी ?

सरन : ओह तुम तो घड़ी रखते ही नहीं। (**थोड़ी खामोशी**) सन्तोला, वक्त क्या हुआ है ?

सन्तोला : वक्त देखना छोड़ दिया था। उससे फायदा क्या था ? हर अगला वक्त पिछले बीते हुए की नकल होता जाता था—सिर्फ नकल, बिना किसी बदल के।

सरन : ववत क्या हुआ है सन्तोला ?

सन्तोला : जानना ही चाहते हैं ? मैंने घड़ी को चाभी नहीं दी, बन्द है। कब से बन्द है क्या जाने—

सरन : बन्द—बन्द है—और—और मेरी घड़ी भी रुक गई। कैसी अजीब बात है ! शाम को चाभी देने की आदत थी। यहाँ पता ही नहीं लगता शाम हुई या दिन चढ़ आया। बन्द है। वक्त का चलना अब बन्द है। वक्त अब रुक गया है—(**सहसा जैसे चौंक कर कुछ याद करके**) सन्तोला, मैं समझ गया—उस वक्त मैं कह रहा था ना कि हवा में शायद आक्सीजन कम हो रही है ?

मैं गलत कह रहा था। वह घुटन एक किस्म की बदबू की थी, मरे हुए वक्त की—हमारा वक्त मर गया सन्तोला। जानती हो घर में कोई मर जाय और उसकी लाश पड़ी हो, तो सारे घर की हवा कैसी भारी-भारी सी हो जाती है—फेफड़े इसीलिए घुट रहे थे—आओ सन्तोला, सुखबीर आओ—कुदाल कहाँ है—

(कुदाल खोजता है। कुदाल मिल जाने पर ज़मीन में गढ़ा खोदने लगता है।)

सरन : पत्थर में गढ़ा बनाना कितना मुश्किल होता है ?

सन्तोला : जी ?

सरन : घबराओ नहीं। मेरा और कोई मतलब नहीं है। मगर पत्थर कितनी मुश्किल से टूटता है—

(फिर कुदाल चलाता है)

सन्तोला : आप यह क्या कह रहे हैं आखिर ?

सरन : ठहर जाओ सन्तोला, बस ज़रा सी देर ठहर जाओ।

(कुदाल चलाता रहता है)

सन्तोला : आप बताते क्यों नहीं ? आप क्या कर रहे हैं आखिर ?

(सरन झुककर गढ़ा देखता है)

सरन : हो गया। अब काफी गढ़ा हो गया है। ठीक है। सन्तोला, ये वक्त हमारी घड़ियों से इस तरह चुपचाप निकल जायेगा—मैंने नहीं सोचा था। अपने वक्त की लाश को आओ अब हम दफन कर दें। वक्त की इस लाश से बदबू आना शुरू हो इससे पहले ही इसे दफन कर दें। सन्तोला, टार्च दिखाओ—

सन्तोला : प्रोफेसर !

सरन : आओ, आओ सन्तोला। सुखबीर, आ जाओ। आओ। आओ हम इस मरे हुए वक्त को दफ़न कर दें। **(घड़ी को गढ़े में रखकर खड़ा होता है)** हंद दानी भिक्खवे आमन्तयामि वो वयधम्मा संखारा···ओ भिक्षुओ मैं कहता हूँ सभी वस्तुओं का वक्त पूरा हो जाता है—

(सहसा सुखबीर धीरे-धीरे फिर जोर से फूट-फूट कर रो पड़ता है।)

सन्तोला : क्या हुआ सुखबीर, तुम रो रहे हो ?

सुखबीर : ये टार्च बुझा दीजिए, आँखों में चुभती है।

सन्तोला : तुम लेट जाओ अब। कुछ खाओगे ?

सुखबीर : नहीं।

सरन : वो टार्च मुझे देना। (**टार्च लेता है**) बैग कहाँ है मेरा ? (**बैग खोज लेता है**) मैं डायरी लिखूँगा अब—मैं लिखूँगा—

सन्तोला : अब कैसा मन है सुखबीर ?

सरन : मैं—मैं अब डायरी लिखूँगा। यहाँ न तो मैं रोना चाहता हूँ और न ही मैं असहाय होकर मौत आने का इन्तजार करूँगा। मौत अब मेरे लिए एक साक्षात्कार है—एक आत्मबोध—तन्दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं—मृत्यु ने कहा—ओ नचिकेता, वह मुश्किल से ही दिखाई देता है, वह बहुत जटिल है, वह दुर्गम गुफा में रहता है—

(सहसा सन्तोला की हँसी उभरती है।)

सन्तोला : (**सिर्फ आवाज, हँसी के साथ**) त्रित कुएँ में गिर गया—त्रित कुएँ में गिर गया—(**हँसी गूँजती है।**)

सरन : (**ऊँची आवाज में**) अपने आपको मत ठगो सन्तोला, बस करो—अपने आपको मत ठगो। हम सब कुएँ में गिरे हैं, हम सब।

सन्तोला : (**शान्त स्वर**) क्या हुआ प्रोफेसर ?

सरन : अपने आप पर भी हँस रही हो तुम जानती हो—अपने आप पर भी हँस रही हो।

सन्तोला : मैं हँस कब रही थी ? आपको लगा मैं हँस रही थी ? उस वक्त भी आपको लगा था—

सरन : तुम कहना क्या चाहती हो ? मुझे वहम होता रहता है ? मेरा दिमाग़ खराब हो गया है ?

सन्तोला : चीखिए नहीं।

(सहसा दरवाजे के पत्थरों पर कुदाल चलती है)

सुखबीर : कोई सुन रहा है ? कोई है ?

सन्तोला : तुम फिर वहीं पहुँच गए ?

सुखबीर : हाँ। मैं बाहर निकलना चाहता हूँ। मैं यहाँ नहीं रह सकता। यहाँ घुट-घुटकर मरना नहीं चाहता। कोई है ? कोई सुन रहा है ? **(पागलों की तरह कुदाल चलाता है)**

सन्तोला : प्रोफेसर—

सरन : वह काफी चालाक है।

सन्तोला : क्या मतलब ?

सरन : चीखने वाला आदमी ध्यान खींचता है।

सन्तोला : क्या मतलब, आप कहना क्या चाहते हैं ?

सरन : कुछ नहीं सन्तोला, कुछ नहीं। खुदा के लिए चुप हो जाओ। बात मत करो सन्तोला, बात मत करो। बात मत करो—बात मत करो—**(अलग हट जाता है)**

सन्तोला : **(स्वगत)** इतना गहरा अकेलापन। लगता है इस ठंडे काले पत्थर के अलावा और यहाँ कोई है ही नहीं। कुछ भी परिचित नहीं है। कितना वक्त बीता होगा ? घड़ी और तारीख—ये पैमाने कितने गलत हैं। घड़ी यहाँ हो भी तो क्या है ? तारीख यहाँ बदलती भी रहे तो फर्क क्या पड़ेगा ?

(कालान्तराल)

सरन : पानी—यहाँ कहीं पानी था—

सन्तोला : पानी ?

सरन : तुमने रखी थी न बोतल ?

सन्तोला : सुखबीर को दी थी।

सरन : ओह !

सन्तोला : चाहिए ?

सरन : उस पर मेरा हक नहीं रहा शायद ?

सन्तोला : ओफ़—सुखबीर—सुखबीर—(**टार्च की रोशनी डालती है। सुखबीर के गले से जबर्दस्त चीख निकलती है।**)

सन्तोला : क्या हुआ तुम्हें ? क्या हुआ ?

सुखबीर : ओह नहीं, कुछ नहीं—(**चीख की वजह से जबर्दस्त खाँसी**)

सन्तोला : ठहरो तो। कहीं चोट आ गई क्या ?

सुखबीर : नहीं—वो—वो टार्च दिखाई थी न आपने अभी ?

सन्तोला : हाँ, मगर क्यों ?

सुखबीर : उसकी रोशनी यकायक आँखों में पड़ी तो लगा जैसे किसी ने मेरी आँखें नोचकर निकाल लीं और मैं अंधा हो गया। इतनी तीखी रोशनी से—

सन्तोला : मैं क्या करूँ सुखबीर, मगर मुझे लगता है—(**रुक जाती है**)

सुखबीर : क्या ?

सन्तोला : —

सुखबीर : आप कुछ कहते-कहते रुक क्यों गईं ?

सन्तोला : कुछ नहीं। छोड़ो।

सरन : पानी की बोतल का क्या हुआ ?

सुखबीर : ओह उसमें तो—

सरन : क्या उसमें तो ? उसमें तो क्या ? पानी नहीं है ? पानी नहीं है न ? खत्म हो गया पानी ?

सन्तोला : हाँ, पानी खत्म हो गया। उसके पीछे क्यों पड़े हैं आप ? मैंने खत्म किया है पानी।

सरन : सन्तोला !

सन्तोला : कितने दिन चलना था एक बोतल पानी ? (**सन्नाटा**)

सरन : (**स्वगत**) ठीक है। ठीक है। बिल्कुल ठीक है। जो कुछ है उसी की आदत पड़ जाएगी। कितनी छोटी हो गई है यह दुनिया यकायक। सन्तोला, मैं तुमसे माफी नहीं माँगना चाहता, लेकिन यकायक यहाँ सब कुछ कितना छोटा हो गया है—दयनीय ! अथाह अँधेरे में सिर्फ एक बिन्दु—बिन्दु से भी छोटा और साधारण—लगता है जैसे हमारा आकार भी छोटा होता जा

रहा है—आवाज़ें इस तरह सुनाई देती हैं जैसे बहुत दूर घाटी में कहीं कोई बोल रहा हो—

(कालान्तराल)

सन्तोला : **(बेहद खिली आवाज़)** प्रोफेसर जल्दी उठिए—प्रोफेसर—इधर देखिए—जल्दी—

सरन : **(ऊँघता हुआ)** ओफ़ क्या है ? तुमने फिर टार्च जलानी शुरू कर दी ?

सन्तोला : इधर तो देखिए, जल्दी—

सरन : मैं कह रहा हूँ टार्च बन्द करो। घड़ियों के बाद अब यह टार्च—सन्तोला, मैं कह रहा हूँ इसे बुझाओ।

सन्तोला : ज़रा देखिए तो—जल्दी—

सरन : टार्च बन्द करो, मैं कह रहा हूँ।

सन्तोला : क्यों ? नहीं—

सरन : सन्तोला, घड़ियाँ मर गईं अब टार्च नहीं। प्लीज़, मुझ पर मेहरबानी करो। इस रोशनी को अब मैं इतनी जल्दी मरने देना नहीं चाहता—

सन्तोला : सुखबीर, तुम देखो इधर। जल्दी।

सरन : आखिर, क्या है क्या ?

सन्तोला : एक छिपकली। वो उधर दीवार पर। सुखबीर, तुम देख रहे हो न ?

सुखबीर : कहाँ ?

सन्तोला : वो—वहाँ, छत के करीब—दिखाई दी ?

सुखबीर : अरे, हाँ—छिपकली।

सन्तोला : ज़िन्दा है। मैं समझ रही थी इस कैदखाने में हम सिर्फ तीन लोग ही है। यहाँ यह भी है। प्रोफेसर देखिए न। उफ़, किस कदर मोटी और काली है। अरे धीरे-धीरे मुँह खोलती है जैसे कुछ बोलना चाहती है। सुखबीर, दूसरी भी होगी कहीं। आओ

उसे भी खोजें। ज़रूर दूसरी छिपकली भी कहीं होगी। आओ सुखबीर—

(**सहसा प्रोफेसर छिपकली पर एक पत्थर मारता है।**)

सन्तोला : (**चीख़ के साथ**) अरे प्रोफेसर !

सरन : टार्च मुझे दो सन्तोला (**टार्च छीन लेता है और दीवार पर रोशनी डालता है।**)

सन्तोला : यह आप क्या कर रहे हैं ? प्रोफेसर—

(**प्रोफेसर फिर पत्थर उठाता है।**)

सन्तोला : सुखबीर ! पत्थर छीन लो।

सरन : ख़बरदार ! मुझे हाथ मत लगाना सुखबीर।

सन्तोला : प्रोफेसर, आप नहीं मार सकते।

सरन : मैं मारूँगा। ज़रूर मारूँगा—मैं उसे—मैं उसे देख नहीं सकता—उसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।

सन्तोला : प्रोफेसर—सुखबीर—

सुखबीर : सर— पत्थर छोड़ दीजिए न—

सरन : अलग हट—(**पत्थर सुखबीर के सिर पर मार देता है। सुखबीर चीख पड़ता है। सन्तोला उसे सँभालती है। खिन्न और अपने आप से पराजित सरन पत्थर हाथ से छोड़ देता है।**)

सरन : मैंने कहा था। वो माना क्यों नहीं ? मैंने कहा था—मैं मैं—आखिर मैं क्या करूँ—क्या करूँ—मैं—

सन्तोला : तुम्हें तो खासी चोट आ गई है। ठहरो, मुझे खून पोंछने दो।

सुखबीर : मुझे चक्कर आ रहा है।

सन्तोला : अपने आपको सँभालो। बैठ जाओ। बहुत कष्ट हो रहा है ? लेट जाओ चाहो तो—

सुखबीर : नहीं। लेटूँगा नहीं। लेटने पर लगता है किसी ने बदन खुरच दिया है। (**कराह**)

सन्तोला : बहुत कष्ट हो रहा है ?

सुखबीर : मैं बाहर जाऊँगा—मैं बाहर—जाऊँगा—बाहर जाऊँगा।

(चीखता हुआ दरवाजे तक जाता है और हथेलियों से पीटने लगता है।)

सन्तोला : **(हँसी के साथ आवाज़)** त्रित कुएँ में गिर गया। त्रित कुएँ में गिर गया—**(हँसी)**

सरन : हाँ हाँ हाँ। मैं गिर गया कुएँ में। मैं कुएँ में गिर गया। मैं गिर गया कुएँ में—

सन्तोला : **(शान्त स्वर)** क्या हुआ प्रोफेसर ?

सरन : ये तुम्हारी हँसी ओफ़—

सन्तोला : मेरी हँसी ? मैं तो नहीं हँसी प्रोफेसर। आपको लगा कि मैं हँसी थी ?

सरन : हाँ हाँ हाँ। हँसी थीं। बहुत घिनौनी हँसी।

सन्तोला : ये टार्च आँखों से हटा लीजिए। रोशनी चुभती है।

सरन : टार्च ? मेरे हाथ में कहाँ है टार्च ?

सन्तोला : आपने टार्च नहीं जलाई ? मुझे क्यों लगा था ? रोशनी सी क्यों महसूस हुई थी आँखों के आगे, क्या थी वो रोशनी—प्रोफेसर वो वहम थी ?—**(थोड़ी खामोशी)** सुखवीर ?

सुखबीर : जी !

सन्तोला : तुम बैठे हो या लेटे हो ?

सुखबीर : बैठा हूँ।

सन्तोला : कुछ बातें क्यों नहीं करते ? आवाज़ों से ही लगता है हम यहाँ हैं, हम ज़िन्दा हैं। आवाज़ें सुनाई देना बन्द हो जाती हैं तो लगता है—लगता है—आवाज़ें आती हैं तो एक दूसरे की मौजूदगी का एहसास तो रहता है—

सुखबीर : आप ही कुछ बातें कीजिए।

सन्तोला : प्रोफेसर—**(खामोशी)** आप कहाँ हैं ? **(खामोशी)** आप नाराज़ हो गए ? बोलेंगे नहीं ?—कहाँ हैं आप ?—प्रोफेसर ? कहाँ हैं आप ? **(उसे खोजती है।)**

सरन : **(बचते हुए)** क्या है ?

सन्तोला : ओह ! आप बहुत नाराज हो गए ? **(खामोशी)** सचमुच नाराज़

हो गए हैं प्रोफेसर ?

सरन : हाँ। लेकिन ठहरो। तुमसे नहीं।

सन्तोला : चिढ़कर यह बात कह रहे हैं न? नाराज़ मेरी बातों पर हैं, मगर चिढ़कर कह रहे हैं न ?

सरन : तुमने मुझे क्या समझा है सन्तोला ? तुम क्या चाहती हो मुझसे ?

सन्तोला : जी—

सरन : तुम इस तरह मुझे क्यों अपमानित करना चाहती हो ?

सन्तोला : मुझे अफसोस है प्रोफेसर—क्या आप, आप माफ़ करना चाहेंगे ?

सरन : **(थोड़ा खुश होकर सन्तोला को टटोलकर खोजता है।)** अब अगर हम उस प्रसंग को भूल जाएँ ?

सन्तोला : अगर मुमकिन हो। हम जितना खीजे हैं, क्या अब उतना ही अपने आपको सँभाल नहीं सकते ?

सरन : शायद।

सन्तोला : आइए, बैठिए। बातें करेंगे। सुखबीर, कहाँ हो ?

सरन : सन्तोला, एक बात कहूँ ?

सन्तोला : जी।

सरन : ज़रूरी है, हम तीनों ही भीड़ लगाकर बातें करें ?

सन्तोला : क्या मतलब, आप—

सरन : नहीं, मुझे गलत मत समझो सन्तोला, ईश्वर के लिए मैं तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ, मुझे गलत मत समझो—मैं कुछ देर चुपचाप बैठना चाहता हूँ। मुझे थोड़ी-सी शान्ति दो सन्तोला ईश्वर के लिए, मैं थोड़ी-सी शान्ति चाहता हूँ।

सन्तोला : ओह ! **(सन्नाटा)** सुखबीर ?—कहाँ हो ?

सुखबीर : **(कमज़ोर आवाज़)** जी—मैं—

सन्तोला : तुम्हारी तबीयत कैसी है ?

सुखबीर : ठीक है। सिर्फ सिर ज़रा भारी है। पट्टी लगता है ज़्यादा कस गई है।

सन्तोला : मैं पट्टी ढीली कर दूँ ?

सुखबीर : नहीं। ठीक हो जायेगी। सिर भारी है थोड़ा-सा, चक्कर जैसा आने लगता है।

सन्तोला : शायद भूख की वजह से होगा। कोई बात नहीं सुखबीर, जो है वह है। अच्छा सुनो, टार्च क्या तुम्हारे पास है ?

सुखबीर : नहीं तो। शायद प्रोफेसर साहब के पास होगी। क्यों ? टार्च मत जलाइए। अँधेरा ज़्यादा ठीक लगता है। रोशनी होती है तो पता नहीं कैसी अजीब घबराहट होने लगती है।

सन्तोला : कोई बात नहीं सुखबीर, देखो मैं टार्च लाती हूँ—हम लोग उस छिपकली को खोजेंगे। देखेंगे वह हम लोगों को देखकर डरती है या क्या करती है। उसको सैण्डविच का चिकेन निकालकर खिलाएँगे। वह पल जायगी। थोड़ी-सी कोशिश करेंगे तो हम से वह डरना छोड़ देगी, तब हम उससे खेला करेंगे—बशर्ते कि—बशर्ते कि—हम लोग तब तक जिन्दा रह गए—मगर छोड़ो सुखबीर, आओ छिपकली को खोजें। उठ तो सकते हो न ? उठोगे तो थोड़ा मन स्वस्थ होगा। आओ उसे खोजें—प्रोफेसर, टार्च आपके पास है—

सरन : है। टार्च है। मगर मत माँगो सन्तोला। मैं उस घिनौनी चीज़ की शक्ल बर्दाश्त नहीं कर सकता। जब तक वो यहाँ है मैं सो नहीं पाता। मुझे लगता है वह चुपके से करीब आ गई है और मेरे तलवे अपनी सर्द ज़बान से चाटने लगी है—मैं—मुझे उसे मार देने दो सन्तोला मार देने दो। ईश्वर के लिए मार देने दो—

सन्तोला : प्रोफेसर—एक बात बताइए—मरने का यह निर्णय—एक पत्थर की चोट से पिसकर यकायक समाप्त हो जाने का फैसला उसके लिए क्यों ? हमारे लिए क्यों नहीं (**खामोशी**) आखिर ऐसी यकायक सरलीकृत मौत—इतनी आसान मृत्यु हमारे लिए क्यों नहीं—इस घने ठोस अँधेरे में कुदाल की एक चोट ही काफी है न और कुदाल नीचे आती भी तो नहीं दीखेगी।

कुदाल उठने और उसके सिर के बीचोबीच धँसकर जान ले लेने के बीच बिलकुल कुछ नहीं होगा—आतंक के बजाय सिर्फ शून्य होगा और वह भी यकायक पुँछ जायगा। हम क्यों न मर जाएँ प्रोफेसर; वह नन्हा प्राणी जिसका जीने की ललक से भी परिचय नहीं है और मरने की यातना से भी नहीं है वह क्यों मरे प्रोफेसर ?

(प्रो० सरन यकायक अजीब गिलगिली-सी, घुटी-घुटी-सी हँसी हँसता है।)

सन्तोला : क्या हुआ ?

सरन : **(वैसी ही हँसी)**

सन्तोला : ऐसे क्यों हँस रहे हैं प्रोफेसर ? मैंने बहुत गलत बात कह दी ?

सरन : लो—

सन्तोला : जी ?

सरन : लो टार्च।—टार्च ले लो मैं कह रहा हूँ। **(सन्तोला टार्च लेती है।)** अब देखो अपनी छिपकली—देखो।

सन्तोला : मगर—

सरन : मैं कह रहा हूँ देख लो। टार्च इसीलिए दी है। देखो उसे—

(सन्तोला टार्च दीवार पर डालती है।)

सरन : नहीं, वहाँ नहीं। वहाँ तो है ही नहीं। टार्च नीचे करो। नीचे दीवार के पास ज़मीन पर। थोड़ा और बायें हटाओ। वो रही। देखी ?

सन्तोला : ओ ईश्वर, ओ ईश्वर—नहीं—नहीं—

सरन : मेरा पहला निशाना ही गलत नहीं था। नहीं था न गलत। तुम नाहक दूसरा पत्थर छीन रही थीं। उसकी तो ज़रूरत ही नहीं पड़ी। **(वैसी ही हँसी)**

सन्तोला : हे ईश्वर, आपने उसे मार दिया ?

(सुखबीर भी आ जाता है।)

सुखबीर : ठहरिए शायद वो—

सन्तोला : हमारे बीच अब मृत्यु आकर बैठ गई—और यह आपके सहारे

प्रोफेसर—यह पहली मृत्यु इस काली गुफ़ा में—आपके कारण —कहिए आपकी वजह से कहिए—कहिए आपकी वजह से—

सरन : हाँ । मेरी वजह से । कम से कम यह—मेरी वजह से ।

(सन्तोला उसे अपने रूमाल से उठाना चाहती है। सुखबीर रूमाल लेकर खुद उस मरी हुई छिपकली को उठाता है। रूमाल में लपेटकर धीरे-धीरे किसी बच्चे की लाश की तरह उठाए खड़ा होता है। सन्तोला वहीं बैठी रह जाती है, खामोश । सुखबीर टटोलकर वह जगह खोजता है जहाँ घड़ी दफ़न की गई है । टार्च की रोशनी से सरन पहचानता है।)

सरन : सुखबीर, क्या कर रहे हो ? खबरदार उस घिनौनी लाश को मेरे वक्त के साथ मत दफन करना—**(सुखबीर सिर्फ उसे घूर कर व्यस्त)** मैं कह रहा हूँ वहाँ तुम उसे नहीं दफ़न कर सकते—

(सुखबीर सुनता नहीं उसे वहीं दफ़न कर देता है और खड़ा हो जाता है ।)

सुखबीर : न कथंच न गंतव्यं कुरुणामुत्तरेण वः—उत्तर कुरु के उत्तर की तरफ़ कभी मत जाना । वहाँ बहुत अँधेरा होता है और उससे आगे का हाल किसी को नहीं मालूम—

सरन : सुखबीर—

सुखबीर : आइए प्रोफेसर साहब, अब हम उसकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करें । सन्तोला जी—**(सभी स्थिर)** दानियल बोला—मुझे रात में एक सपना दीखा । चार एक दूसरे से अलग-अलग प्राणी समन्दर से बाहर आए । फैसला लिख डाला गया और किताब खोल ली गई । मैंने देखा पहला जीव मार डाला गया और उसका शरीर नष्ट कर दिया गया। और फिर बाकी तीन प्राणियों का जब सवाल आया तो उनसे उनकी ज़मीनें छीन ली गईं । फिर भी उनकी आयु लम्बी हो गई । आमीन ।

सन्तोला : आमीन। **(खामोशी। फिर यकायक रो पड़ती है । रोती रहती है ।)**

सरन : **(कहीं अलग खड़ा हुआ)** मैं माफी चाहता हूँ—

(सन्तोला फिर भी रोती रहती है।)

सुखबीर : सुनिए, मेरे सिर में दर्द बढ़ गया है। कुछ चिपचिपा सा लगा रहा है : शायद खून फिर बहने लगा है।—सुनिए—उठिए न, मुझे चक्कर सा आ रहा है। मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है—

(वह रोती रहती है। वही गूँजती हुई हँसी सन्तोला की उभरती है।)

सन्तोला : **(सिर्फ आवाज, हँसी के साथ)** त्रित कुएँ में गिर गया—त्रित कुएँ में गिर गया—त्रित कुएँ में गिर गया—

(हँसी आवाज के साथ गूँजती रहती है, सन्तोला रोती जाती है।)

दूसरा अंक

वही जगह

(भुवन, सन्तोला का पति, आता है।)

भुवन : सन्तोला—अरे कहाँ हो ? इतना अँधेरा ?—सन्तोला—(**लेटी हुई सन्तोला से टकराता है।**) क्या है ? कौन है ? (**सन्तोला पेट के बल चुपचाप लेटी है।**) सन्तोला—सन्तो—(**उसे घबराहट में उठाता है और वह जम्हाई लेते हुए उठती है।**)

भुवन : अरे ओ पाजी लड़की, तूने मुझे डरा ही दिया था। हद हो गई। एक तो इतना अँधेरा ऊपर से इस तरह—

सन्तोला : एक बात बताओ।

भुवन : पूछो।

सन्तोला : तुम सचमुच डर गए थे ?

भुवन : फिर क्या ?

सन्तोला : तुम कितने बच्चे हो भुवन !

भुवन : क्या मतलब ?

सन्तोला : तुम क्या समझ रहे थे मैं मर गई ?

भुवन : शट्प।

सन्तोला : मैं सो गई थी। पता नहीं कैसे नींद आ गई।

भुवन : यानी जानबूझकर ऐसे डरा नहीं रही थीं ?

सन्तोला : छिह ! इतने घटिया तरीके से डराती ?

भुवन : —

सन्तोला : डराना होता तो जानते हो क्या करती ?

भुवन : —

सन्तोला : किसी और तरह की सिगरेट लाती। उन्हें जला-जलाकर ऐशट्रे में इकट्ठा कर देती। कहीं से एक जोड़ी पहने हुए मर्दाने जूते लाकर बाहर कमरे में रख देती और फिर दरवाज़ा बहुत देर से खोलती, दरवाज़ा खोलने से पहले बाल बिखरा लेती, लिपस्टिक और बिन्दी भी गड़बड़ कर लेती।

भुवन : ओह ! काफ़ी लंबी-चौड़ी योजना से डरातीं !

सन्तोला : फिर क्या ऐसे दकियानूसी तरीके से ?

भुवन : एक बात कहूँ ?

सन्तोला : कहो।

भुवन : तुम भी बच्ची हो।

सन्तोला : क्या मतलब ?

भुवन : तुम्हारा क्या ख्याल है मैं डर जाता ?

सन्तोला : डरते तो भले नहीं—

भुवन : लेकिन गुस्से में ज़रूर आ जाता। यही न ?

सन्तोला : —

भुवन : जानती हो मैं क्या करता ? तुम्हें ऐसे देखकर कहता—माफ़ करना सन्तोला, मैं थोड़ी देर बाद आऊँगा और फिलहाल बाहर टहलते हुए पीने के लिए उस भाग्यशाली आदमी की सिगरेटें दे दो।

सन्तोला : सिगरेट ?

भुवन : हाँ। सिगरेट की तो उसे बाद में ही ज़रूरत पड़ती न।

सन्तोला : हे ईश्वर, तुम कितने गन्दे हो !

भुवन : लो इसमें गन्देपन की क्या बात है ?

सन्तोला : अच्छा अब बत्ती तो जलाओ।

(भुवन बत्ती जलाता है।)

भुवन : ऐसे सोने की तुक क्या थी ?

सन्तोला : बताऊँ—बताऊँ क्या वजह थी ?

भुवन : क्या ?

सन्तोला : तुम।

भुवन : मैं ? अब तो कई दिन से रात को तुम्हें जागना भी नहीं पड़ा।

सन्तोला : हाँ, इसीलिए थका देते हो। रात को जागो तो गलत वक्त पर नींद नहीं आएगी।

भुवन : जाग लेतीं।

सन्तोला : ठीक है। शिकायत मत करना।

भुवन : चाय मिलेगी—गर्म ?

सन्तोला : चाय ? इस वक्त ? चलो।

भुवन : अच्छा छोड़ो।

सन्तोला : क्यों ?

भुवन : बैठो। कुछ बात करेंगे।

सन्तोला : अरे ! कई दिन बाद आज ऐसे, इस वक्त बात करने की याद कैसे आ गई ?

भुवन : कई दिन बाद ? हाँ शायद—

सन्तोला : अच्छा एक बात बताओ भुवन—अच्छा मान लो—यानी अगर तुम ऐसे वापस लौटते और सचमुच ही ऐशट्रे में अलग ब्राण्ड की सिगरेटें और एक जोड़ा मर्दाने जूते तुम्हें दिखाई देते, तो तुम क्या करते ?

भुवन : बताया तो।

सन्तोला : नहीं, मान लो सचमुच ही कुछ गड़बड़ होता तब ?

भुवन : तो मैं जो बता रहा हूँ वो क्या झूठ बता रहा हूँ ?

सन्तोला : सचमुच यही करते ?

भुवन : बिल्कुल यही नहीं तो शायद बाहर घूमता रहता या फिर बाहर के कमरे में इन्तज़ार करता।

सन्तोला : हा ! तुम कितने गन्दे हो !

भुवन : गन्दा हूँ ? डियर सन्तोला, अगर तुम्हारा यह सब सोचना गन्दगी नहीं है, तो मेरा उससे परेशान न होना क्यों गन्दा होगा ?

सन्तोला : पकड़े गए न ?

भुवन : क्यों ?

सन्तोला : इसका मतलव है कहीं न कहीं मानते हो कि मैंने जो सोचा वह गन्दा है।

भुवन : बाल की खाल मत निकालो सन्तोला, मेरा यह मतलब कतई नहीं था।

सन्तोला : तुम्हें बुरा नहीं लगेगा ? तुम्हें जलन नहीं होगी भुवन ?

भुवन : होनी चाहिए ?

सन्तोला : फिर क्या ? तुम मुझ पर अपना—बिल्कुल अपना हक नहीं चाहोगे ?

भुवन : तुम कोई मेरा पर्स तो नहीं हो कि मैं अपनी जेब में ही रखूँ ?

सन्तोला : यानी तुम्हें इससे कोई मतलब नहीं होगा कि मैं तुम्हें सिर्फ तुम्हें प्यार करूँ ?

भुवन : होगा।

सन्तोला : फिर ?

भुवन : फिर क्या ? मैं ज़रूर चाहूँगा मुझे प्यार करो लेकिन इससे क्यों और किस हक पर रोकूँगा कि किसी और को भी प्यार करो।

सन्तोला : (**दोनों के बीच का वातावरण सहसा बोझिल**) भुवन, तुम गम्भीर हो ?

भुवन : क्या चाहती हो मैं तुमसे भी झूठ बोलूँ ?
(**लम्बी खामोशी। जैसे सन्तोला कुछ सोच रही है।**)

सन्तोला : भुवन, हम लोगों ने शादी की है। एक दूसरे को समर्पित हो रहने के लिए शादी की है।

भुवन : मैं इसे कब गलत कहता हूँ ?

सन्तोला : कह रहे हो।

भुवन : नहीं, तुम गलत समझ रही हो। समर्पित होने के लिए शादी की है। ज़रूर की है। समर्पित हैं भी—

सन्तोला : लेकिन—

भुवन : ठहर जाओ सन्तोला, मुझे बात पूरी कर लेने दो। हम एक

दूसरे को समर्पित हैं, लेकिन फिर भी अगर तुम्हारे दरवाज़े पर किसी गैर मर्द के जूते दिखाई देते हैं इसका मतलब है तुम्हें कहीं वह ठीक लग रहा होगा।

सन्तोला : इसका अर्थ जानते हो ?

भुवन : जानता हूँ, लेकिन वह दकियानूस आदमी का अर्थ होगा यानी मैं तुम्हें खुश नहीं रख पाया—यही न ? यह ज़रूरी नहीं है। तुम्हें कोई और अच्छा लगे, इसके लिए यह कतई ज़रूरी नहीं है कि मैं बुरा लगूँ।

सन्तोला : और तुम्हें यह स्थिति अच्छी लगेगी ?

भुवन : अगर कहूँ बुरी लगने की कोई वजह नहीं है तो ?

सन्तोला : बताओ तुम्हें अच्छी लगेगी ?

भुवन : मैंने कहा न कि बुरी लगने का कारण क्या होगा ?

सन्तोला : मैं सिर्फ एक बात का सीधा उत्तर चाहती हूँ—तुम्हें अच्छा लगेगा ?

भुवन : इससे आगे कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ।

सन्तोला : भुवन इधर देखो—मेरी ओर देखो भुवन—यह तुम कह रहे हो ? तुम कुछ ऐसा भी अपने पास रखना चाहते हो जो हम दोनों का नहीं सिर्फ तुम्हारा हो ?

भुवन : सन्तोला, तुम नाहक एक बात को तूल दे रही हो।

सन्तोला : नहीं, मुझे पूरा हक है कि मुझे लेकर तुम जो कुछ सोचो उसके साझीदार हम दोनों हों।

भुवन : चाय नहीं बनाओगी सन्तोला ? थोड़ा सर भारी हो रहा है।

सन्तोला : बात बदल रहे हो ?

भुवन : तुम चाय नहीं पिलाना चाहतीं ?

सन्तोला : तुम बात बदल रहे हो भुवन।

भुवन : यह क्यों नहीं कहतीं कि चाय पिलाने से कतरा रही हो ?

सन्तोला : ओह ! फिर तो तुम डाँटकर भी कह सकते हो कि मैं तुम्हें चाय पिलाऊँ। पति हो।

भुवन : सो तो हूँ और इसका गर्व कर सकता हूँ। (**उसका कंधा छूना**

चाहता है।)

सन्तोला : हाथ पीछे रखो।

भुवन : नहीं रखता। मेरा अधिकार है। मैं जहाँ चाहूँ रखूँगा।

सन्तोला : भुवन—(**सहसा भावुक। आँसू आ जाते हैं।**)

भुवन : ये क्या तरीका है? रोने की वजह? (**सन्तोला तनाव और भरी हुई आँखों, खामोश**) बैठो। बैठ जाओ सन्तोला। चाहोगी कि अब यह प्रसंग खत्म हो जाय? (**वह चुप रहती है।**) मैं तुम्हें तकलीफ पहुँचाने के लिए माफी माँग लूँ तो चलेगा?

सन्तोला : मत माँगना माफी। माफी मत माँगना भुवन, मुझे तुम्हारी भीख नहीं चाहिए। मुझे किसी की भीख नहीं चाहिए। किसी की भीख नहीं चाहिए मुझे—(**तेजी से जाती है, भुवन खामोश बैठा रहता है।**)

भुवन : (**स्वगत**) ऐसा नहीं है कि तुम सब कुछ नहीं जानतीं सन्तोला—मैं सब जान रहा हूँ। भाषा—भाषा है यह, जो परदा है—सच तो कुछ दूसरा ही है—वह कुछ और ही है जिसे हम दोनों ने झेलना शुरू कर दिया है, लेकिन वह सब उघड़ कर सामने न आ जाए इसलिए—भाषा—भाषा—शब्द—कुछ न कुछ बोलो—चाहे जितना अर्थहीन हो बोलो ताकि वह सच उभर न आए। खामोशी होते ही तुम्हारी आँखों की झिरी से भी वही झाँकने लगता है जो मेरी आँखों से। हम लोग एक दूसरे से ऊब गए हैं। उकता उठे हैं और कुछ नया नहीं रहा—सिर्फ यही है। ऊब गए हैं और अब किसी भी बहाने एक दूसरे से दूरी तलाश करते हैं। सन्तोला, ऐसे तो काम नहीं चलेगा। नहीं—ऐसे नहीं—इतनी आसानी से यह ऊब मेरे और तुम्हारे बीच आकर बैठे यह नहीं होगा—यह नहीं होगा सन्तोला—नहीं होगा—(**जाता है**)

(कालान्तराल)

भुवन : सन्तोला—सन्तोला—(**सन्तोला आती है।**) अरे, तुम कहीं जा रही हो क्या ?

सन्तोला : आज बहुत खुश लग रहे हो ?

भुवन : हाँ। मगर तुम कहीं जा रही हो क्या ?

सन्तोला : न जाऊँ ?

भुवन : (**थोड़ी खामोशी के बाद**) सुनो, तुमने मेरा जवाब सोच लिया है न—यही कि मैं कहूँगा कि अगर तुम जा रही हो तो मैं रोकने वाला कौन होता हूँ ?

सन्तोला : कुछ और कहोगे इस बार ?

भुवन : हाँ।

सन्तोला : क्या ?

भुवन : सोचो ?

सन्तोला : इसके अलावा और क्या कहोगे ?

भुवन : कहूँ तो मानोगी ?

सन्तोला : शायद।

भुवन : ओह ! तब चलो छोड़ो।

सन्तोला : नाराज़ हो गए ? कहो मानूँगी।

भुवन : मत जाओ।

सन्तोला : क्या ?

भुवन : मत जाओ। अधिकार से नहीं, इसलिए कह रहा हूँ कि चाहता हूँ, मत जाओ।

सन्तोला : चलो नहीं जाती। अब ?

भुवन : बहुत अच्छे। चलो बैठो।

सन्तोला : चाय पियोगे ?

भुवन : कुछ नहीं चाहिए। सिर्फ बैठो। कुछ बात करनी है।

सन्तोला : (**सहसा उदासीन होकर**) वही सब। —वही ना ?

भुवन : नहीं, बिल्कुल नहीं। मैं कसम से कहता हूँ। बिल्कुल दूसरी ही बात करनी है।

सन्तोला : ठीक है। कहो।

भुवन : अरे, तुम इस तरह कुबूल करा रही हो जैसे मैं बाज़ार भाव बताऊँगा।

सन्तोला : (**सहसा उठते हुए**) मैं चाय बना लूँ—

भुवन : (**रोककर**) सुनो—(**खामोशी—देर तक**) मैं समझ रहा हूँ। चाय मुझे चाहिए नहीं—

सन्तोला : लेकिन मुझे चाहिए—

भुवन : तुम्हें भी नहीं चाहिए, यह भी जानता हूँ। सच कहूँ अब वह वक्त आ गया है कि हम स्थिति पर थोड़ा सा गम्भीरता से सोचें। (**रुकता है।**)

सन्तोला : कहे जाओ।

भुवन : देखो जल्दबाज़ी में अभी नतीजे मत निकालने लग जाना, मैं हाथ जोड़ता हूँ—तुम जानती हो पिछले कुछ दिनों से हम दोनों आपस में महसूस करने लगे जैसे हमने एक दूसरे को इतना ज़्यादा जान लिया कि अजनबी हो गए। मेरा हाथ तुम्हारे जिस्म पर पड़ता है तो तुम्हें लगता है वह तुम्हारा ही हाथ है और मुझे लगता है वह मेरा ही जिस्म है। अपने जिस्म पर अपना हाथ कोई गरमाहट पैदा नहीं करता। अपने जिस्म पर दूसरे के हाथ के छूने में ही गरमाहट महसूस होती है सन्तोला—औरत और आदमी की देह के बीच रिश्ते के लिए अपरिचय, अजनबीपन ज़रूरी होता है।

सन्तोला : इतना लम्बा भाषण देने के लिए चाय ज़रूरी न हो, सुनने के लिए तो है—

भुवन : मुझे अपनी बात पूरी कर लेने दो सन्तोला—

सन्तोला : अभी पूरी होनी बाकी है? यही कहना चाहते हो न कि अब और ज़्यादा साथ रहा नहीं जा सकता? मगर फिर—

भुवन : तुमने जल्दबाज़ी की, यही मैं डरता था। तुमने वही किया। मुझे अपनी बात भी पूरी नहीं करने दोगी? (**सन्तोला चुप हो जाती है**) सुनो, तुम चाहोगी कि मैं एक कोशिश करूँ उसी अपरिचय को ज़िन्दा करने की?

सन्तोला : जिस चीज़ को अब कोशिश करके ज़िन्दा करना पड़े उसे अपनी मौत मर जाने देना ज़्यादा आसान होगा। अगर मेरा और तुम्हारा रिश्ता मर गया है तो मर जाने दो। मुझे अब जाना है। प्रोफेसर इन्तज़ार कर रहे होंगे।

भुवन : सन्तोला—(**सन्तोला सुनती नहीं, चली जाती है।**)

भुवन : (**स्वगत**) मैं जानता हूँ सन्तोला। तुम पर अविश्वास नहीं करूँगा। मुझे पता है कि तुम भी इस रिश्ते की मृत्यु पसन्द नहीं करतीं। तुम्हें भी छटपटाहट महसूस होती है। तुम मदद करोगी, मैं जानता हूँ तुम ज़रूर मदद करोगी—

(**सन्तोला वापस आती है।**)

भुवन : अरे, तुम वापस आ गईं ? कुछ भूल गईं ?

सन्तोला : नहीं। लेकिन वापस न आती तो क्या अच्छा लगता ?

भुवन : लड़ाई मत करो बाबा। युद्धबन्दी का मैं एकतरफ़ा एलान करता हूँ। तुम्हारा वापस आना अच्छा लगा।

सन्तोला : लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि तुम अपना भाषण फिर शुरू कर दो।

भुवन : नहीं होगा। वचन दिया। बस ? मगर एक बात कहूँ, जिस तरह तुम वापस आईं उससे डरा ही दिया।

सन्तोला : क्या मतलब ?

भुवन : ऐसा लगा जैसे तुम यह देखने आईं कि तुम्हारी गैर मौजूदगी में मैं क्या करता हूँ—यानी कहीं किसी को बुलाता तो नहीं हूँ।

सन्तोला : भुवन साहब, एक बात बताऊँ, तुम्हारे कमरे के बाहर एक जोड़ी ज़नानी जूती और सोफे पर पड़े पेटीकोट को देखकर मैं चुपचाप इन्तज़ार न करती।

भुवन : मतलब यह कि तुम ठुँकाई शुरू कर देतीं ?

सन्तोला : जी नहीं। उस कमरे का दरवाज़ा खोलती, अन्दर जाती और एक कुरसी खींचकर वहीं बैठ जाती—

भुवन : तुम कितनी गन्दी हो ! वहीं बैठ जातीं, उसी पलंग के सामने, जिस पर मैं किसी दूसरी लड़की के साथ होता ?

सन्तोला : हाँ; और देखती वहाँ उस लड़की के जिस्म में तुम किस जगह अपरिचय और अजनबीपन टटोलते हो।

भुवन : तुम बहुत गड़बड़ हो। मैं तो कभी ख़लल न डालता, अगर तुम्हारे साथ कोई होता।

सन्तोला : सचमुच ?

भुवन : आज़माकर देख लो।

सन्तोला : काश !

भुवन : क्या मतलब ? मैं कह जो रहा हूँ।

सन्तोला : आदमी क्या कोई नानबाई के यहाँ पाव रोटी की तरह मिलता है कि ऐसे ले आया जाए ?

भुवन : नहीं, बाकायदा इश्क करके लाओ।

सन्तोला : (**फीकी हँसी**) एक इश्क सामने बैठा है। वैसे दूसरा इश्क भी मज़ेदार ही है। प्रोफेसर डाक्टर सरन शायद मुझसे इश्क करने लगे हैं।

भुवन : बढ़िया। फिर तो काम बन गया।

सन्तोला : प्रोफेसर तो बेहोश हो जाएगा। उसे विश्वास है कि मैं उसे जवाब नहीं दे रही हूँ। अगर किसी दिन मैं उसकी हथेली पर अपनी हथेली रख दूँ ना तो प्रोफेसर पागल हो जाएगा।

भुवन : सुनो, अगर यह सच है—

सन्तोला : अगर क्या बिल्कुल सच है। औरत को किसी आदमी की नीयत जानने में एक मिनट भी नहीं लगता।

भुवन : अच्छा सन्तोला, मैं कसम खाकर कहता हूँ मैं बिल्कुल ही बुरा नहीं मानूँगा, तुम प्रोफेसर को बुला लो।

सन्तोला : फिर ?

भुवन : फिर क्या, थोड़ा सा खुले कपड़े पहन लेना; बार-बार उसके सामने आना-जाना, या उसको थोड़ा सा दिखाते हुए कपड़े बदलने लग जाना—देखें वह क्या करता है।

सन्तोला : करेंगे क्या, बौखला जायेंगे—

भुवन : हाँ। बौखला जाने दो। बहुत होगा झपट कर तुम्हें पकड़ लेंगे।

सन्तोला : हे ईश्वर ! मेरी तो चीख ही निकल जाएगी—

भुवन : चीखो क्यों ?

सन्तोला : फिर ?

भुवन : उसे एक मौका देने में तुम्हारा क्या जाता है ?

सन्तोला : (**लम्बी गम्भीर खामोशी**)

भुवन : क्या सोच रही हो ?

सन्तोला : सोच रही हूँ रिश्ता मरने के एहसास को लेकर इतना आगे बढ़ गए कि अब दूसरे के साथ सोना मेरी नियति बना देंगे ?

भुवन : अरे ! सन्तोला, तुमने मुझे बहुत गलत समझा। मैं महज़ एक नाटकीय स्थिति की कल्पना भर कर रहा था। अच्छा मान लो प्रोफेसर नहीं मैं ही आता हूँ तुम्हारे कमरे में बल्कि—अच्छा सुनो, मान लो मैं प्रोफेसर सरन हूँ और तुम्हारे पति की गैर मौजूदगी में आया हूँ। तुम क्या करोगी—

सन्तोला : नमस्कार प्रोफेसर साहब, चाय तो चलेगी ?

भुवन : फिर तुमने वही चाय की बात शुरू कर दी—

सन्तोला : (**हँसती है**) इस बार चाय की बात वैसी नहीं थी।

भुवन : फिर ?

सन्तोला : तुमने कहा न मैं तुम्हें प्रोफेसर सरन मान लूँ—मैंने मान लिया। आप आए तो चाय तो पूछूँगी ही—

भुवन : ओह ! कैसी हो सन्तोला ? भुवन साहब क्या कहीं गए हैं ?

सन्तोला : (**हँसती है।**)

भुवन : क्यों ?

सन्तोला : प्रोफेसर इतनी जल्दी संवाद नहीं बोलते। बहुत धीरे-धीरे और बहुत घुमाकर बोलते हैं—इतनी आसानी से तुम्हारे बारे में—

भुवन : मैं भुवन नहीं हूँ। प्रोफेसर हूँ।

सन्तोला : चलो प्रोफेसर सही। वो इतनी आसानी से भुवन के बारे में नहीं पूछेंगे।

भुवन : ओह ! चलो फिर से सही। बल्कि शुरू से। चलो मैं आता हूँ—तुम स्वागत करो।

सन्तोला : आओ।

(**भुवन जाता है और घंटी बजाता है। सन्तोला दरवाज़ा खोलती है।**)

सन्तोला : आप ? नमस्कार, आइए आइए—

(**भुवन अन्दर आता है।**)

भुवन : व्यस्त थीं ?

सन्तोला : नहीं नहीं, बस यों ही—

(**भुवन बैठता है।**)

सन्तोला : गलत।

भुवन : क्या मतलब ?

सन्तोला : प्रोफेसर को तुम जानते नहीं। इस मामले में एकदम अंगरेज़ बनता है। चाहे उसकी छात्रा ही क्यों न हो महिला, जब तक बैठ न जाए, वो खुद नहीं बैठता; बल्कि जानते हो, चूँकि बड़ा आदमी माना जाता है इसलिए आम तौर पर महिलाएँ उसके कहने के बावजूद पहले बैठने से हिचकती हैं। ऐसे मौके वह हाथ से नहीं जाने देता और जानबूझकर उन्हें पहले बैठाने की कोशिश करते हुए उनकी पीठ, कमर या बाँह छूने की कोशिश करता है। संस्थान की हर लड़की उसकी इस आदत को जानती है। चलो दुबारा आओ।

(**भुवन फिर बाहर जाता है और दुबारा आता है। सन्तोला उसे नमस्कार करती है।**)

भुवन : व्यस्त थीं ?

सन्तोला : जी नहीं, आप आइए—

भुवन : ओह, मैंने समझा मैं शायद गलत वक्त पर आकर तुम्हें असुविधा दूँगा।

सन्तोला : नहीं नहीं, आप बैठिए न—

भुवन : तुम बैठो—बैठ जाओ—(**भुवन उसकी पीठ थोड़ी सी छूता है।**)

सन्तोला : हाय ! तुम तो प्रोफेसर की तुलना में डरपोक ही हो। अपनी

बीवी को छूते डरते हो ?

भुवन : हे ईश्वर, क्या वह इससे आगे बढ़ जाता है ?

सन्तोला : इससे कहीं आगे। जानते हो, उसका हाथ अजीब लिजलिजा सा है। कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे मरा हुआ चूहा किसी ने पीठ पर रख दिया। फिर बैठने को कहकर इतनी जल्दी वह हाथ नहीं हटाता। वहीं पीठ पर उसका बीमार-सा पंजा टिका रहता है और उसकी पिचकी हुई उँगलियाँ रीढ़ पर रेंगती रहती हैं। वह ऐसा ज़ाहिर करता है जैसे अपना हाथ वहाँ रखकर भूल गया है और किसी गम्भीर समस्या में खो गया है। रीढ़ में एक झुरझुरी सी होने लगती है लेकिन वह पंजा वहाँ से नहीं हटाता। बात करते वक्त वह इस कदर हाथ-पैर चलाता है कि खीज होने लगती है।

भुवन : सन्तोला, तुमने मीडियन्स पर नोट तैयार कर लिए हैं न ? **(हाथ रखता है।)**

सन्तोला : जी।

भुवन : ध्यान रखना उनके और पार्थियन्स के संबंधों को थोड़ा सा विस्तार से याद कर लो। देखो, तुम्हारी थीसिस के बारे में जब पूछा जाएगा उस वक्त तीसरे अध्याय को लेकर यह ज़रूर पूछा जाएगा।

सन्तोला : हाथ थोड़ा सा और नीचे भी ले जा सकते हो।

भुवन : और नीचे ?

सन्तोला : फिर क्या !

भुवन : हे ईश्वर ! वह तो लगता है तुम्हारे साथ बलात्कार ही करने लगता है। खैर—सन्तोला, ज़रा वो किताब तो उठाना—

सन्तोला : ना। यह भी वह नहीं करता। इस मामले में वह सचमुच लड़की का खयाल रखता है। किताब खुद ही उठाएगा, यहाँ तक कि जाड़ों में कोट उतारने में भी मदद करता है और पहनने में भी।

भुवन : चलो आज इतना ही काफी है। कल फिर इसी वक्त प्रोफेसर

सरन भुवन की गैर मौजूदगी का फायदा उठाकर आएगा। अब एक चाय दो गर्म—

सन्तोला : प्रोफेसर यह भी नहीं करता। चाय वह खुद लाता है। नौकर को भी लाने नहीं देता। मगर चलो। तुम पति हो, वह प्रेमी है—

भुवन : बाप रे ! चलो फिर मैं ही लाता हूँ—

सन्तोला : नहीं। चाय मैं ही लाऊँगी, तुम बैठो। कुछ खाओगे? अगर आसानी से कुछ बन जाए तो अच्छा ही है।

(सन्तोला जाती है।)

भुवन : **(स्वगत)** तुमने एक ख़तरनाक बात कह दी सन्तोला, पता नहीं अनजाने में या जानबूझकर। मैं पति हूँ, प्रोफेसर प्रेमी है और दोनों अलग-अलग हैं, दोनों की आदतें अलग-अलग हैं और दोनों एक नहीं हैं। मैं पति हूँ, पति का आचरण अलग होता है और मैं वैसे ही आचरण करता हूँ—पति की तरह—प्रेमी की तरह नहीं। यह खेल तुम्हें अच्छा लगा है सन्तोला? पति के अलावा किसी और से रिश्ता जोड़ने की यह कहानी तुम्हें सुख देती है? कहीं इसके पीछे यह तो नहीं है कि तुम मुझसे बदला लेना चाहती हो? सन्तोला, क्या तुम खतरे से भी सावधान हो?

(कालान्तराल)

(सन्तोला आती है, भुवन उठ खड़ा होता है।)

सन्तोला : अरे आप कब आए प्रोफेसर? देर से बैठे हैं?

भुवन : बैठो-बैठो। क्या कर रही थीं?

सन्तोला : कुछ भी नहीं। आप बैठिए न।

भुवन : तुम बैठो न। मैं भी बैठ जाऊँगा।

सन्तोला : आज आप कुछ परेशान से लगते हैं प्रोफेसर?

भुवन : अँ—नहीं तो—या शायद हूँ। मगर वह सब अपनी निजी

समस्या है। तुमने अपनी रिपोर्ट मँगा ली ?

सन्तोला : नहीं, आप पहले बताइए, परेशान क्यों हैं ? ऐसी क्या निजी समस्या हो सकती है, मुझे नहीं बताना चाहेंगे ?

(भुवन उसके कंधे पकड़कर उसके पीछे आ खड़ा होता है।)

भुवन : बहुत सी ऐसी निजी बातें होती हैं जिन्हें अकेले ही झेलना बेहतर होता है।

सन्तोला : आप मुझे इतना अलग समझते हैं ?

भुवन : अलग नहीं समझ रहा हूँ सन्तोला, एक तकलीफ से तुम्हें दूर रखना चाहता हूँ।

सन्तोला : ठीक है। यह कहकर आप अपनी तकलीफ से नहीं मुझे अपने आपसे दूर रखना चाहते हैं। बल्कि शायद आप नहीं महसूस करेंगे कि आप इस तरह मुझे अपमानित भी कर रहे हैं।

भुवन : अरे रे नाराज़ हो गईं ? मेरा यह मतलब कतई नहीं था सन्तोला। सुनो तो—**(उसे मनाने के प्रयत्न में उसके और करीब आ जाता है। शरीर की यह निकटता थोड़ी देर गहरी होती है।)**

सन्तोला : सुनिए, दरवाजा शायद खुला है।

भुवन : ओह ! मैंने असावधानी में खुला ही छोड़ दिया था।

सन्तोला : मैं बन्द करके आती हूँ—**(जाती है और वापस आती है)**

भुवन : क्या भुवन जल्दी लौटने वाले हैं ?

सन्तोला : आपकी नीयत खराब हो रही है। खराब हो रही है न ?

भुवन : कहूँ हाँ तो तुम्हें बुरा लगेगा ? क्या मुझे असभ्य कहोगी और घर से बाहर कर देना चाहोगी ?

सन्तोला : प्रोफेसर ! आप मुझे इतना गलत समझते हैं ?

भुवन : नहीं, गलत नहीं समझता। लेकिन जो एक बहुत संवेदनशील और नाजुक काँच के खिलौने की तरह का रिश्ता हमारे बीच पैदा हो आया है वह टूट न जाए, मेरे एक लालच की वजह से नष्ट न हो जाए, इसका डर लगता है।

सन्तोला : लालच ?

भुवन : लालच। तुम्हें पाने का एक बेसबरापन, अपने आपको बाँध न पाने का भय—

सन्तोला : बाँधना क्यों चाहते हैं ?

भुवन : सन्तोला, इतना आगे मत बढ़ो, मैं बहुत कमज़ोर आदमी हूँ—

सन्तोला : यह सब कह कर मुझे कमजोर मत बनाइए प्रोफेसर—

भुवन : सन्तोला—(**वह उसका चेहरा, फिर शरीर समेट लेता है। समेटे रहता है।**)

सन्तोला : (**सहसा हँसती है**)

भुवन : क्या हुआ ?

सन्तोला : तुम तो नाटक को खासा ही आगे लिए जा रहे हो !

भुवन : क्या मतलब ?

सन्तोला : सचमुच प्रोफेसर हुए जा रहे हो ! चलो अब बाकी खेल कल। खाना खा लें चलकर।

भुवन : नहीं सन्तोला। खाना बाद में खाएँगे। तुमने मुझे आज यकायक उत्तेजित कर दिया है। सन्तोला, चाहे अब यह खेल ही क्यों न रहा हो, इसे तुम इस तरह बीच में नहीं छोड़ सकतीं।

सन्तोला : (**हँसती है**) अरे तुम्हें क्या हो गया भुवन, तुम तो ऐसे बेबस कभी नहीं होते थे। छोड़ो। खाना लगाने दो।

भुवन : सन्तोला, यह नहीं हो सकता।

सन्तोला : अरे, तो क्या तुम ज़बर्दस्ती पर आमादा हो गए हो ?

भुवन : हाँ, ज़बर्दस्ती पर।

सन्तोला : तुम—तुम बलात्कार करोगे ? अपनी बीबी पर बलात्कार करोगे—छोड़ो मुझे—

भुवन : नहीं, बिल्कुल नहीं—सन्तोला, अब यही होगा—तुमने मजबूर किया है—(**बलात्कार की कोशिश से बेहद मुश्किल से छूटती सन्तोला चीख पड़ती है।**)

सन्तोला : ओ रे जानवर ! ओ माँ ! मैं नफरत करती हूँ तुमसे, मुझे नफ़रत है तुमसे—तुमसे नफ़रत है—
(**संघर्ष के बाद वह चीखती रहती है।**)

भुवन : (**स्वगत**) सन्तोला ! ये क्या किया तुमने ? ये क्या हुआ ? तुमने आज एक आदमी को तोड़कर दो कर दिया सन्तोला, दो—अलग अलग—एक दूसरे से नफ़रत करने वाले एक दूसरे के विरोधी दो अलग-अलग टुकड़ों में तोड़ दिया है तुमने सन्तोला—प्रेमी प्रोफेसर और पति भुवन—जीता हुआ तुम्हारे नज़दीक प्रोफेसर और हारा हुआ तुमसे दूर भुवन—यह तुमने क्यों होने दिया सन्तोला—तुमने यह दुर्घटना रोकी क्यों नहीं ?—यकायक अपने अन्दर का मैं खलनायक हो गया और ओढ़ा हुआ नकली मैं प्रोफेसर का एक खेल करके जीत गया—तुमने यह दुर्घटना रोकी क्यों नहीं सन्तोला—क्यों नहीं रोकी ?—सन्तोला—कहाँ हो तुम—सन्तोला···

(**जाता है। कालान्तराल**)

सरन : अरे ओफ़—ओफ़—(**अपने कपड़े पीटता, झाड़ता है।**)

सन्तोला : क्या हुआ प्रोफेसर ?

सरन : उफ़—मुझे लगता है एक छिपकली कहीं मेरे कपड़ों में घुस गई है—ओफ़।

सन्तोला : कपड़े उतारना चाहते हैं न आप ? उतार दीजिए। इस अँधेरे में कपड़े न होने से फ़र्क भी क्या पड़ेगा ? उतार दीजिए कपड़े।

सरन : हाँ, मुझे लगता है—मुझे—सन्तोला—

सन्तोला : सुखबीर—सुखबीर—कहाँ हो तुम ?

सुखबीर : जी !

सन्तोला : कहाँ हो ?

सुखबीर : यहीं तो हूँ।

सन्तोला : ओह ! तब ऐसा क्यों लग रहा है जैसे तुम कहीं बहुत दूर से बोल रहे हो ? तुम्हारी आवाज़ बहुत दूर से आ रही है··· अपना हाथ इधर लाओ—

सुखबीर : मुझे मितली उठ रही है। अगर उल्टी हो जाती।

सन्तोला : अपना हाथ लाओ सुखबीर—कई दिन हो गए शायद कुछ भी खाया नहीं तुमने—अब तबीयत खराब हो तो भूलने के सिवा और चारा भी क्या है? तुम्हारा—तुम्हारा हाथ इतना सर्द क्यों है?

सरन : मेरी भी तबीयत खराब हो रही है सन्तोला—मेरे भी नज़दीक आओ—मेरा भी हाथ देखो—मगर सावधान रहना, मैंने कपड़े उतार दिये हैं—तुम्हारा हाथ कहाँ है?—मैं क्या करता मेरे कपड़ों में छिपकली घुस गई थी न—तुम अपना हाथ दो न सन्तोला—

सन्तोला : प्रोफेसर ! हाथ हटाओ अपना।

सरन : मगर—मगर—सन्तोला—

सन्तोला : आप आखिर चाहते क्या हैं?

सरन : अँ ? कुछ नहीं। कुछ भी नहीं। कुछ नहीं चाहता—(**अलग हट जाता है।**)

(**सुखबीर की खाँसी और कराह**)

सन्तोला : सुखबीर, बहुत तकलीफ हो रही है? मेरे नज़दीक आ जाओ। उफ़ तुम्हारा बदन इतना ठण्डा हो रहा है। क्या हुआ है तुम्हें? बोलते क्यों नहीं—तुम्हारे माथे का ज़ख्म अब कैसा है—

सुखबीर : बहुत दर्द है। पट्टी मत खोलिए—

सन्तोला : नहीं, देखने दो। (**सुखबीर की कराह**) तकलीफ हो रही है? मन को थोड़ा सा बदलो।

सुखबीर : आप कहाँ जा रही हैं?

सन्तोला : कहीं तो नहीं। यहीं हूँ। अपने पैर इधर कर लो—तुम्हारा शरीर तो सर्द ही होता जा रहा है—अब कुछ अच्छा लग रहा है न—कुछ गर्माहट महसूस हो रही है—

सुखबीर : हाँ—अच्छा लग रहा है—

सन्तोला : तुम्हारे माथे का ज़ख्म देखूँ—

(सहसा माथे से बहता रक्त चूसने लगती है। सुखबीर भयार्त चीख़ पड़ता है।)

सुखबीर : नहीं-नहीं—मेरा खून—मेरा खून पी लिया—मेरा खून—खून पी लिया—

(जैसे डरे पशु की तरह काँपता कोने में चला जाता है।)

सन्तोला : **(स्वगत)** आदमी का खून इतना अच्छा होता है—वह इतना स्वादिष्ट होता है ? मैंने कभी जाना ही नहीं था—दुनिया में सबसे ज़्यादा लज़ीज़ होता है शायद आदमी का खून। सुखबीर—तुम ऐसे डर क्यों गए ? तुम्हें अच्छा लग रहा था न ? तुम्हारे ठण्डे नंगे जिस्म को मैं जो गरमाई दे रही थी वो क्या इससे अलग थी ? तुम्हारे नथुनों में ताज़े खून की गंध अच्छी नहीं लगी थी क्या ?

(कालान्तराल)

सरन : **(निकट आकर)** सन्तोला—

सन्तोला : आप—

सरन : मैं माफी चाहता हूँ।

सन्तोला : लेकिन क्यों ?

सरन : अब मत पूछो। सचसुच माफ़ी चाहता हूँ।

सन्तोला : **(खामोश रहती है)**

सरन : मैं खड़ा हूँ सन्तोला। मेरे पाँव काँप रहे हैं, खड़ा नहीं हुआ जाता। बैठने को नहीं कहोगी ? मैं ज़्यादा देर खड़ा नहीं रह सकता।

सुखबीर : **(वहीं से टूटी आवाज़ में)** मत जाइए—प्रोफेसर उसके पास मत जाइए—**(खाँसी)** मत जाइए—

सरन : तुम बैठने को अब भी नहीं कहोगी ?

सन्तोला : बैठिए।

सुखबीर : वहाँ मत जाइए प्रोफेसर—वह खून पी जायगी—मत

जाइए—वहाँ मत—(**खाँसी**)

सन्तोला : कहा तो बैठ जाइए—

सरन : धन्यवाद। बहुत-बहुत धन्यवाद। सन्तोला, हमारा वक्त भी मर गया और टार्च की रोशनी भी खत्म हो गई। वक्त भी मर गया और दृष्टि भी। रोशनी भी चली गई आखिर।

सुखबीर : प्रोफेसर—आप मेरी बात सुन रहे हैं—क्या आपको मेरी बात सुनाई नहीं देती ?—क्या हो गया है मेरी आवाज़ को—जैसे टूटा हुआ बाल तालू से चिपक गया हो—मेरी आवाज़ मुँह से बाहर क्यों नहीं आती—प्रोफेसर—आपको मेरी आवाज़ सुनाई नहीं दे रही है ?

सन्तोला : सुखबीर सो गया है शायद।

सरन : शायद। वह तभी किसी बात से डर गया था न, डर कर चीखा था न?

सन्तोला : जी।

सुखबीर : कोई सुन रहा है—किसी को मेरी आवाज़ सुनाई देती है—(**आवाज़ कराह में बदल जाती है और धीरे-धीरे वह शायद सचमुच सो जाता है।**)

सरन : सन्तोला—

सन्तोला : (**खामोश**)

सरन : क्या सोच रही हो तुम ?

सन्तोला : (**खामोश**)

सरन : कहाँ हो तुम ? यहीं हो या—

सन्तोला : यहीं हूँ।

सरन : कुछ सोच रही हो ?

सन्तोला : क्या सोचा जा सकता है ?

सरन : हाँ। क्या सोचा जा सकता है। (**खामोशी**)

सन्तोला : प्रोफेसर, अगर मैं सही समझ रही हूँ तो मुझे पता है आप क्या सोच रहे हैं।

सरन : (**खामोश**)

सन्तोला : जानना नहीं चाहेंगे कि मुझे क्या मालूम है ?

सरन : (खामोश)

सन्तोला : बल्कि एक बात कहूँ—शायद जो आप सोच रहे हैं वह जाने कितनी बार हो भी चुका है। आपको ताज्जुब नहीं हुआ ?

सरन : क्या सोच रहा हूँ मैं ? तुम क्या जानती हो मैं क्या सोच रहा हूँ ?

सन्तोला : शायद जानती हूँ। सुखबीर सो रहा है। अभी शायद सोएगा। आप जो चाहते है वह मैं समझ रही हूँ। आपने कपड़े उतार दिये हैं न ? आइए प्रोफेसर—

सरन : सन्तोला !

सन्तोला : उलझन की कोई बात नहीं है। अब किस बात का संकोच होगा ? क्यों होगा ?

सरन : मुझे—मैंने तभी कहा था ना कि मुझे अफ़सोस है ? और क्या चाहिए ?

सन्तोला : उसे भूल जाइए प्रोफेसर। आप तभी चाहते थे न कि मैं आपसे बातें करूँ ? मुझे बातें करने क्यों नहीं देते ?

सरन : (खामोश)

सन्तोला : मैं जानती हूँ। आपके मन में क्या है, इसके बारे में मेरा अनुमान गलत नहीं है। मैंने अभी कहा था कि जो आप चाहते हैं वह कितनी ही बार हो भी चुका है, लेकिन आपने चाहकर भी ताज्जुब ज़ाहिर नहीं किया। क्यों ज़ाहिर नहीं किया ?

सरन : ज़रूरत नहीं महसूस हुई।

सन्तोला : होनी चाहिए थी प्रोफेसर। होती तो अच्छा था। आप जानते हैं मैं जो कुछ आपको बताना चाहती हूँ उसे बताना औरत के के लिए एक हद तक शर्मिन्दगी की बात होती है।

सरन : कुछ और बात करो सन्तोला।

सन्तोला : सुन लीजिए प्रोफेसर, मैं समझती हूँ यह हम दोनों के लिए बेहतर होगा। बल्कि समझ लीजिए, मैं बताना ही चाहती हूँ। बताकर अब एक अध्याय पूरा कर लेना चाहती हूँ। बता-

इए—कहूँ ?

सरन : **(खामोश)**

सन्तोला : प्रोफेसर ?

सरन : **(खामोश)**

सन्तोला : आप सुनेंगे ना ?

सरन : **(खामोश)**

सन्तोला : कहाँ हैं आप ?—**(हाथ से टटोलती है)** ओह, आप शायद नाराज़ हैं। इस बार मैं माफी माँग लूँ तो चलेगा ?

सरन : कहो, मैं सुन रहा हूँ।

सन्तोला : **(थोड़ी खामोशी)** कभी-कभी—बात कहाँ से शुरू करूँ—चलिए बिल्कुल शुरू से ही बताती हूँ—

सरन : सुखबीर को भी नहीं सुनाना चाहोगी ?

सन्तोला : ओह ! आप अभी भी नाराज़ हैं ? माफी माँग ली फिर भी ?

सरन : रहने दो सन्तोला, मन बहुत परेशान है।

सन्तोला : **(खामोश)**

सरन : बुरा मत मानना लेकिन—सच बात यह है—दरअसल—छोड़ो सन्तोला अब—कोई फायदा नहीं है। सब कुछ तो टूट गया—बड़े-बड़े सम्मेलन, सम्मान, भाषण, स्वागत, हार, तालियाँ—यहाँ इस गुफा के अँधेरे में धीरे-धीरे अब उनकी याद भी खत्म होती जा रही है और हम धीरे-धीरे सिकुड़कर छोटे होते जा रहे हैं—क्या होगा ? सुनकर भी क्या होगा अब—**(उठ जाता है)**

सन्तोला : इतिहास की खोज में आये थे न हम यहाँ ?

सरन : और फिर—और फिर मेरा सर दर्द से फटा जा रहा है—

सन्तोला : कहाँ है वह इतिहास प्रोफेसर जिसकी खोज में हम यहाँ आए थे ?

सरन : **(सन्नाटे में आकर)** इतिहास ? हाँ इतिहास।

सन्तोला : आप कहते थे कोई भी इतिहास वर्तमान से कटा हुआ नहीं होता—यह है हमारे इतिहास का वर्तमान ?

सरन : वर्तमान—शायद—

सन्तोला : जैसे सिर से नुचकर पंजे में आ गए बाल—

सरन : सन्तोला—मुझे बुखार है शायद—

सन्तोला : जैसे नुचे हुए बाल। ये कौन सा इतिहास होते हैं ?

सरन : सन्तोला, तुमने गुफा में आते वक्त कहा था—क्या कहा था, याद है ?

सन्तोला : (**खामोश**)

सरन : कहा था, यह गुफा किसी गर्भाशय की तरह है—

सन्तोला : शायद।···मुझे कभी बच्चा नहीं हुआ।

सरन : तुमने कहा था, यह गुफा किसी गर्भाशय की तरह है जिसमें तीन शुक्राणुओं की तरह हम रेंग रहे हैं। शुक्राणुओं के वहाँ पहुँचने के बाद—

सन्तोला : पहुँचने के बाद ही वह धमाका हुआ था जिससे एकाएक हमारा इतिहास छिपकली की पूँछ की तरह टूट गया—कट गया।

सरन : हम सचमुच ही गर्भाशय के शुक्राणु हैं। लेकिन सन्तोला, क्या हम अपना इतिहास नहीं बना सकते ?—अपनी सभ्यता नहीं तैयार कर सकते ? पाँच, दस, पन्द्रह जितने रोज़ भी हम जिएँ, क्या उतने दिन की एक नन्हीं सी सभ्यता नहीं बना सकते ?

सन्तोला : (**खामोशी के बाद**) तभी मैंने कहा था न कि मैं आपके मन की बात समझ गई हूँ। मैंने सही कहा था। प्रोफेसर—एक बार आपने मुझे एक ऋचा सुनाई थी। क्या थी वह ऋचा ? मैं जानती हूँ आपने क्यों सुनाई थी—सुनृतावन्तः सुभगा इरा-वन्तो हसामुदाः—डरो मत ओ वीर मेधावी पुरुषो, इस घर में आओ। यहाँ भूख और प्यास मिटती है, मन खुश होता है—डरो मत, इस घर में आओ—प्रोफेसर—(**खामोशी**) क्या हुआ ? आप रुक क्यों गए ?

सरन : सन्तोला, चिढ़ाओ मत। मत चिढ़ाओ सन्तोला, मत चिढ़ाओ।

चिढ़ाओ मत। बहुत मन ख़राब है, बहुत ख़राब है।

सन्तोला : सबका मन ख़राब है। शरीर की हालत ही किसकी अच्छी है। सुखबीर, सो रहे हो ? (**खामोशी**) सो रहे हो तुम ? (खामोशी) सुनिए, आप सचमुच जानना नहीं चाहेंगे कि उस वक्त मैं क्या कह रही थी आपसे ?

सरन : (**थोड़ी खामोशी के बाद**) ऐसा नहीं था कि मैं सुनना नहीं चाहता था।

सन्तोला : फिर ? सुना क्यों नहीं ?

सरन : हो सकता है—हो सकता है तुमने ही ऐसी स्थिति न आने दी हो।

सन्तोला : ठीक कहा आपने। चलिए अब सही। हो सकता है अब न कहा जाय तो कभी भी कुछ कहना मुश्किल हो जाय। कितने दिन अब और ज़िन्दा रहना है ! इस बात को अपने आप तक ही रखे हुए मर गई तो भी क्या होगा ? कहाँ हैं आप ?

सरन : यहीं हूँ।

सन्तोला : ओह ! लगता है आवाज़ बहुत दूर से आ रही है। इतने लम्बे उपवास से क्या ऐसा भी होता है ?

सरन : शायद।

सन्तोला : आप सुनेंगे तो पता नहीं क्या सोचें—बल्कि शायद सुना इसी-लिए रही हूँ कि पता चले उस सबको सुनकर आपकी क्या प्रतिक्रिया होती है। सारी बात अजीब ही तरह से शुरू हुई थी। उन दिनों भुवन और मेरे बीच का संबंध अजीब ऊब भरा, बीमार-बीमार सा हो गया था। एक दिन भुवन एक प्रस्ताव लाए कि वे एक खेल करना चाहते हैं औरत के गैरमर्द से नाजायज़ रिश्ते का खेल। वे घर में पति के रूप में नहीं प्रेमी के रूप में आते थे और ऐसा ज़ाहिर करते थे जैसे मेरे पति घर पर न हों और वे पति की गैरमौजूदगी में पराई औरत के पास आए हों। प्रेमी के रूप में जानते हैं उन्होंने किसकी भूमिका चुनी ? (**खामोशी**) प्रोफेसर सरन की। वे प्रोफेसर

सरन बनकर घर आते थे। कई दिन मुझे भुवन को आपके चालढाल का, आपकी बातचीत के अन्दाज़ का, यहाँ तक कि औरत की तरफ़ हाथ बढ़ाने तक का तरीका सिखाना पड़ा। उसके बाद वे प्रोफेसर हो गए और मैंने और उस कल्पित प्रोफेसर सरन के साथ जाने कितनी रातें बिस्तर पर गुज़ारीं। **(खामोशी)** आप सुन रहे हैं? **(खामोशी)** कहाँ हैं आप?

सरन : सुन रहा हूँ।

सन्तोला : और फिर हम दोनों ने यकायक महसूस किया कि एक बहुत बड़ी दुर्घटना हमारे साथ हो गई। एक ऐसी भयानक दुर्घटना जिसकी कल्पना भी नहीं की थी। हमारे देखते-देखते भुवन की मृत्यु हो गई।

सरन : क्या? **(खामोशी)**

सन्तोला : वैसी मृत्यु नहीं प्रोफेसर। भुवन—भुवन के रूप में सिर्फ पति रह जाते थे—प्रोफेसर सरन का अभिनय करने के बाद हमारे रिश्ते के लिए तो बाकी कुछ नहीं बचता था। एक दिन भुवन ने भुवन के रूप में, पति के रूप में भी मुझे पाना चाहा। जाने क्यों मैं एकदम सर्द हो गई—जम गई। फिर मुझे लगा जैसे मेरे साथ उन्होंने बलात्कार किया। पति ने बलात्कार किया। भुवन की मृत्यु उसी दिन हो गई और चूँकि भुवन नहीं रहे इसलिए प्रोफेसर सरन भी उसके बाद ऐसी प्रेतात्मा हो गए जिसके पास अपना कोई शरीर नहीं था। एक लाश भुवन और एक प्रेतात्मा प्रोफेसर सरन—इनके बीच जीने का आंतक जानते हैं न प्रोफेसर?

सरन : **(खामोश)**

सन्तोला : क्या सोचने लग गए?

सरन : **(खामोश)**

सन्तोला : आप खुश नहीं हुए?

सरन : प्रेत खुश नहीं होते।

सन्तोला : आप चाहेंगे कि वैसा कुछ हो?

सरन : प्रेत कुछ नहीं चाहते सिर्फ़ अतृप्त रहते हैं—प्यासे, लगातार भूखे—लेकिन बेबस—भुवन का शरीर जिस प्रेत की नियति है उसे अब कुछ नहीं चाहिए सन्तोला।

सन्तोला : (हँसते हुए) त्रित कुएँ में गिर गया। त्रित कुएँ में गिर गया। त्रित—(**हँसी खाँसी में बदल जाती है।**)

सरन : (**स्वगत**) तुमने तभी ठीक सोचा था। बिल्कुल सही अनुमान लगाया था कि मैं क्या चाहता था। लेकिन अच्छा हुआ उसे तुमने इस कहानी से जोड़ दिया। बहुत अच्छा हुआ। अब कुछ नहीं चाहूँगा। अच्छा हुआ कि हमारा सारा इतिहास गुफा से बाहर ही छूट गया। अच्छा हुआ वरना मैं तब सिर्फ़ प्रेत होकर तुम्हें भोगता और वह भी सच से बेखबर। अच्छा हुआ।

(**कालान्तराल**)

सन्तोला : सुखबीर—(**लड़खड़ाकर, हल्की चीख के साथ गिरती है। कराह**)

सरन : क्या हुआ तुम्हें ? कहाँ हो ?

सन्तोला : (**कराह**)

सरन : कहाँ हो ? क्या हो गया—बोल क्यों नहीं रही हो ?

सन्तोला : कुछ नहीं।

सरन : ओह ! मैं समझा तुम्हें चोट आ गई। ऐसा लगता है—सुनो, मुझे लगता है हम लोगों ने यह बन्द दरवाज़ा खोलने की ज़्यादा कोशिश नहीं की, जल्दी ही निराश हो गए। सुखबीर अभी सोए ही जा रहा है ?

सन्तोला : नींद से ज़्यादा बेहोशी है।

सरन : सुखबीर—सुखबीर ! सोच रहा था हम दोनों मिलकर एक बार फिर कोशिश करते—मगर—बेकार है। अब तो कुदाल ठीक से उठाना भी मुश्किल ही होगा। तुम अभी गिर गई थीं

न ? कहाँ हो ?

सन्तोला : (**कराह**)

सरन : अब इतना परेशान होने से क्या होगा ? थोड़ा सा मन को मज़बूत करना होगा न। जो है उसे स्वीकार तो करना ही होगा।

सन्तोला : स्वीकार ?—हाँ स्वीकार। शरीर को लगता है कोई—

सरन : मन को बदलो सन्तोला—ऐसे—

सन्तोला : मन ? हाँ। (**खामोशी**) प्रोफेसर—तभी आपने कहा था, पाँच, दस या पन्द्रह रोज़ के लिए ही सही, हम अपनी सभ्यता क्यों नहीं बना लेते—अपना नन्हा सा इतिहास—अब शायद एक दो दिन भी मुश्किल से ही बचे होंगे—

सरन : जो है उसे भूल जाओ।

सन्तोला : नहीं प्रोफ़ेसर, आइए हम एक नन्हा सा इतिहास बना लें—इससे पहले कि मृत्यु हमें अपने थैले में बन्द कर ले—

सरन : इतिहास ?

सन्तोला : सुनिए प्रोफेसर, मेरा एक प्रस्ताव है। यहाँ दो पुरुष हैं और एक औरत। बेहतर होगा दो में से कोई एक मुझसे शादी कर ले।

सरन : सुखबीर को यह मौका दो।

सन्तोला : मैं अपनी इच्छा से चुनाव नहीं कर सकती ?

सरन : (**खामोश**)

सन्तोला : प्रोफ़ेसर, आप मुझसे शादी करेंगे ?

सरन : (**खामोश**)

सन्तोला : मैं जो कह रही हूँ उसे कुछ और न समझें। मुझे क्या आपसे यही बात दूसरी बार पूछने की लज्जा झेलनी होगी ?

सरन : सन्तोला !

सन्तोला : विवाह के लिए क्या कोई औपचारिकता ज़रूरी होगी ?

सरन : ऐसा क्यों कहती हो सन्तोला ?

सन्तोला : (**थोड़ी खामोशी के बाद**) ऐसे अलग ही बैठे रहेंगे आप ?

सरन : अलग ? सन्तोला—
(**वह सहसा उसे करीब खींचना चाहता है। सन्तोला कराह उठती है**)

सरन : क्या बात है ?

सन्तोला : कुछ नहीं।

सरन : हमारा इतिहास भी एक आदिम स्थिति में शुरू हुआ है। सभ्यता का एक चिह्न भी हमारे पास नहीं है और हम सब मृत्यु के आतंक से घिरे हैं।

सन्तोला : विवाह के इस पहले क्षण आप दर्शन की भाषा बोल रहे हैं—यह तो आदिम नहीं है—

सरन : मैं माफी चाहता हूँ सन्तोला। दरअसल हम दोनों इतने गहरे अजनबीपन के बाद मिले हैं कि स्थिति के साथ समझौता आसान नहीं है। फिर भी—फिर भी मैं चाहूँगा कि मैं एक अच्छा पति बन सकूँ।

सन्तोला : नहीं—(**कराह**) नहीं—ईश्वर के लिए—अच्छा पति मत बनिएगा ईश्वर के लिए—आप बर्बर पशु हो जाइए लेकिन वह नहीं—

सरन : सन्तोला (**और निकटता**)

सन्तोला : (**कराह**)

सरन : क्या हुआ ?

सन्तोला : सिर दर्द से फट रहा है और सारी आँतों को जैसे किसी ने गाँठें लगाकर कस दिया हो।

सरन : ठहरो—मैं थोड़ा सा सिर सहला देता हूँ—(**चूमता है**)

सन्तोला : सुखबीर अभी सो रहा है ?—सुखबीर—सुखबीर—

सरन : सो रहा है। सोने दो।

सन्तोला : नहीं, उसे भी इधर ही बुला लीजिए—सुखबीर—

सरन : सन्तोला, यह तुम्हें क्या हुआ है ? क्या थोड़ी देर भी—थोड़ी सी देर भी हमें एकान्त नहीं चाहिए ?

सन्तोला : बहस नहीं कर सकती प्रोफेसर, लेकिन आपने ही कहा था—

हम आदिम इतिहास हैं, सभ्यता के हर निशान से दूर—यह एकांत किस लिए ? सुखबीर भी यहाँ होगा तो कौन सी मर्यादा टूटेगी ? एकान्त होगा तो किस मर्यादा की रक्षा कर लेंगे—सुखबीर—सो रहे हो ?— उसे इधर ले आइए प्रोफ़ेसर।

सरन : पागल हो गई हो सन्तोला—

सन्तोला : तकलीफ़ में हूँ लेकिन होश नहीं खोए हैं। सुखबीर, मैं और आप, हम तीनों इतिहास बनाएँगे—एक को काट कैसे सकते हैं—एक को इतिहास के दरवाज़े से बाहर कैसे कर देंगे ?

सरन : सन्तोला, तब तुमने मुझसे शादी की बात क्यों की थी ?

सन्तोला : **(खामोश)**

सरन : क्यों की थी शादी की बात मुझसे ?

सन्तोला : यह मैं खुद नहीं जानती—लेकिन इसमें हर्ज क्या है ?

सरन : नहीं। यह नहीं होगा।

सन्तोला : यही एक शब्द भुवन ने कभी नहीं बोला था।

सरन : नहीं बोला होगा। मैं बोलूँगा—ज़रूर बोलूँगा।

सन्तोला : सुखबीर—

सरन : मैं भुवन नहीं हूँ—

सन्तोला : आप भी भुवन हैं—भुवन ही हैं। **(प्रोफ़ेसर से अलग होती है)**

सरन : कहाँ जा रही हो ?

सन्तोला : सुखबीर—

सरन : मैं पूछता हूँ कहाँ जा रही हो ?

सन्तोला : चीखिए मत। ओफ़ मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा। सुखबीर, कहाँ हो तुम बोलते क्यों नहीं—

सरन : सन्तोला, मेरी बर्दाश्त की सीमा हो सकती है।

सन्तोला : तो क्या होगा ? आप भी बलात्कार करेंगे ? छोड़िए मुझे—

सरन : नहीं—नहीं—इतनी तकलीफ मत दो—ईश्वर के लिए—

सन्तोला : सुखबीर—**(टटोलती है। खामोशी)**

सरन : ठीक है फिर फैसला कर लो—

सन्तोला : ओह—कहाँ हो तुम—

सरन : मैंने कुछ कहा है—

सन्तोला : (**ठहरकर**) ठीक है। तलाक तो हो सकता है न ?

सरन : क्या ?

सन्तोला : विवाह के लिए औपचारिकता ज़रूरी नहीं थी तो तलाक भी उसी तरह हो सकता है। अब बस करिए।—सुखवीर—(**टकराती है**) ओह, क्या हुआ है तुम्हें—सुखबीर, होश में आओ—बोलो—क्या हुआ है तुम्हें ? (**सुखबीर को खाँसी जैसी आती है**) प्रोफेसर जल्दी कीजिए—देखिए इसे क्या हो गया है—प्रोफेसर—सुख—सुखबीर—नहीं—नहीं—नहीं—(**सन्नाटा**)

सन्तोला : (**सिसकियों के बाद**) त्रित कुएँ में गिर गया—त्रित कुएँ में गिर गया—त्रित कुएँ में—

(**सिसकियाँ**)

सरन : (**स्वगत**) यहाँ कोई गवाह है ? कोई भी गवाह क्या यहाँ है ? कोई भी एक—चाहे वह किसी की अनुपस्थिति ही क्यों न हो—मेरी साक्षी रहे—अपना नन्हा सा इतिहास बनाने का दम्भ करने वाले इस प्रोफेसर डाक्टर सरन की साक्षी रहे यह अनुपस्थिति सभ्यता—कि आज मैं कहता हूँ—इतिहास हमारी स्वीकृति से नहीं बनेगा—इतिहास ही हमें स्वीकृति देगा या अस्वीकृत कर देगा—

(**कालान्तराल**)

सन्तोला : तुम्हारा शरीर इतना सर्द क्यों है सुखबीर ? जमा हुआ ठण्डा गोश्त—मेरे और करीब आ जाओ—तुम्हें कैसा लग रहा है—

सरन : सन्तोला, देखो मेरे नाखूनों से खून आ गया है।

सन्तोला : (**जैसे चौंककर**) खून ? कहाँ—

सरन : जाने कब—शायद—नींद में मैंने यह पत्थर खुरचा होगा—

सन्तोला : मगर—वो—खून—सुखबीर—तुम डर क्यों गए थे ?

सरन : उसे छोड़ दो अब, ईश्वर के लिए उसे छोड़ दो। अब तो—अब तो उसकी लाश दफ़न करने की भी ताकत नहीं रही। —सन्तोला, उसकी लाश से अलग हट जाओ—(**खाँसी**)

सन्तोला : सुखबीर—तुमने उस वक्त मेरा टखना देखा था—कैसा लगा था तुम्हें—कितना स्वादिष्ट है यह शरीर तुम्हारा—कितना मुलायम और ज़ायकेदार—ज़िन्दगी में पहली बार जाना है किसी शरीर का गोश्त इतना लज़ीज़ भी हो सकता है—

सरन : क्या कर रही हो तुम—अलग हट जाओ—कहाँ हो—(**टटोलकर उसे छूता है**)

सन्तोला : (**हल्की, पशु जैसी आवाज़**) नहीं। इससे अलग—नहीं—इसे नहीं छीन सकते—इसे नहीं छिनने दूँगी मैं—

सरन : (**हटाते हुए**) अलग हटो। छोड़ो इसे—(**लगभग चीखकर**) नहीं—तुमने—तुमने इसकी अँगुलियाँ खा लीं—सन्तोला—तुमने सुखबीर का हाथ खा लिया—नहीं—नहीं—
(**सन्तोला भेड़िए की तरह गुर्राती है**)

सरन : नहीं—ख़बरदार—उफ़—कुदाल—(**कुदाल खोजता है। गुर्राहट बढ़ जाती है**) सन्तोला ख़बरदार, मेरे हाथ में कुदाल है—मैं—आखिरी बार कह रहा हूँ—मैं जान से मार दूँगा—मैं—(**गुर्राहट और ज़्यादा**) नहीं—आखिरी बार—ओफ़—(**सन्तोला गुर्राहट के साथ किसी जंगली पशु की तरह उस पर टूट पड़ती है। दोनों गिरते हैं। संघर्ष। गुर्राहट। प्रोफेसर छूटता है और कुदाल का वार करता है। चीख और गुर्राहट और तेज़। वह फिर झपटती है। संघर्ष के बाद प्रोफेसर एक बार फिर अलग। इस बार मरणान्तक संघर्ष में उसे मार देता है। गुर्राहट धीरे-धीरे शान्त। सन्नाटा। अकेला प्रोफेसर थोड़ी देर खड़ा रहता है फिर बैठ जाता है और**

धीरे-धीरे नीचे गिरने लगता है।)

सन्तोला : **(सिर्फ़ आवाज़ नेपथ्य से)** दानियाल बोला—मुझे रात में एक सपना दीखा। चार एक दूसरे से अलग-अलग प्राणी समन्दर से बाहर आए, फैसला लिख डाला गया। किताब खोल ली गई। मैंने देखा, पहला जीव मार डाला गया और उसका शरीर नष्ट कर दिया गया। और फिर बाक़ी तीन प्राणियों का जब सवाल आया तो उनसे उनकी ज़मीनें छीन ली गईं। फिर भी उनकी आयु लम्बी हो गई। आमीन।

●●●